Evolutionary Outlook on Life

Swami Ramanad M.A.

का

श्री रामनारायण गुप्त, इलाहाबाद

द्वारा

हिन्दी रूपान्तर

जीवन विकास - एक दृष्टि

साधना परिवार

स्वामी रामानन्द साधना धाम

संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)-249408

प्रथम संस्करण - दिसम्बर 2003
द्वितीय संस्करण - जुलाई 2017

2000 प्रतियाँ

मूल्य: .....

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक:
साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम
संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)-249408

कम्पोजिंग:
ग्रेटो इंटरप्राइजेज़
जी-30, सरिता विहार, नई दिल्ली-110076, दूरभाष: 9910794578

मुद्रक:
रैक्मो प्रैस प्राइवेट लिमिटेड
सी-59, ओखला इण्डस्ट्रियल एरिया फेज़-1, नई दिल्ली-110020

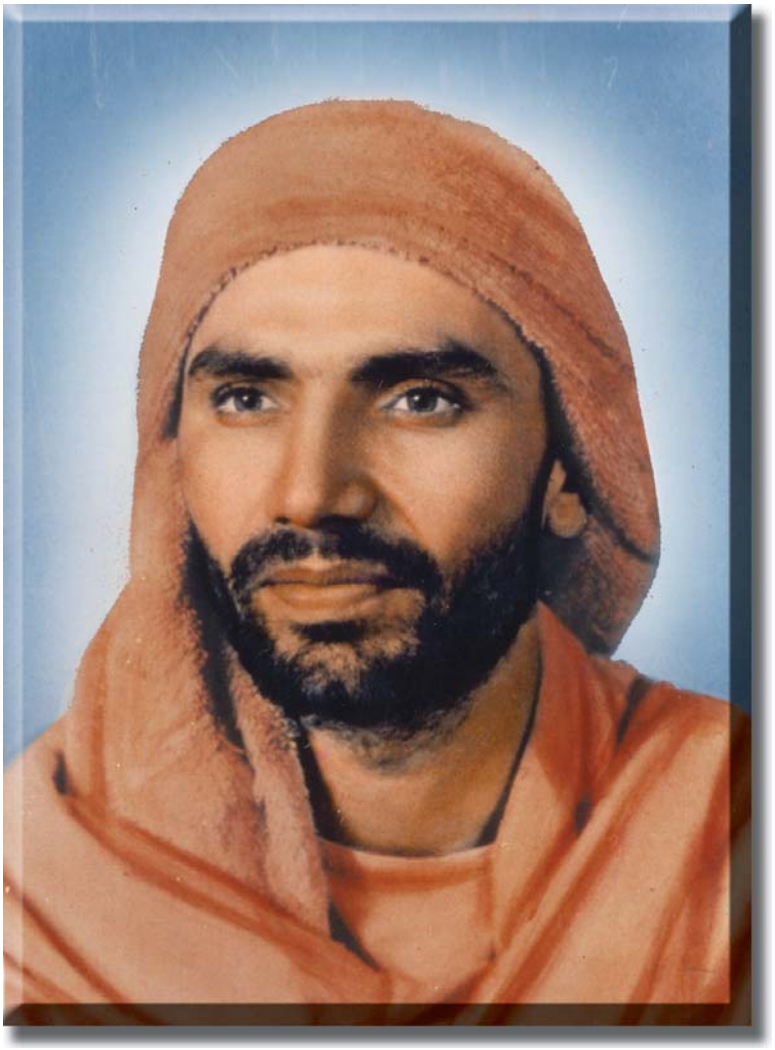

स्वामी रामानन्द जी महाराज

प्राक्कथन

असंख्य जीवों को दिव्य दृष्टि देने वाले हमारे गुरुदेव श्री स्वामी रामानन्द जी महाराज ने अंग्रेजी में एक अनुपम पुस्तक Evolutionary Outlook on Life की रचना की थी जिसमें जीवन के विकास को बड़े सुन्दर और सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसे पढ़कर अंग्रेजी जानने वाले जिज्ञासु पाठक सदा स्वामी जी की ओर खिंचे चले आते हैं। हमें इस पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर साधकों को भेंट करते हुए अति हर्ष हो रहा है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसे पढ़कर असंख्य हिन्दी भाषी जिज्ञासु लाभान्वित होंगे।

यह हिन्दी रूपान्तर इलाहाबाद के साधक श्री रामनारायण गुप्त, रिटायर्ड डिप्टी डायरेक्टर एजुकेशन, द्वारा किया गया था और साधना पत्रिका में क्रमशः 1964 में छपा था। इसका संकलन करके साधना परिवार के अनुरोध पर इसे इस पुस्तक का रूप दिया गया है। इसके पठन मनन से सभी पाठकों को सार्थक शुभ जीवन जीने की सम्यक् दृष्टि मिलेगी, संशय तिरोहित होंगे और वे जीवन को आध्यात्मिक बनाने की ओर अग्रसर होंगे।

हम उन सबके आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में हमें सहयोग दिया और स्वामी जी की विशेष कृपा के पात्र बने।

हरिद्वार
9.7.2017

ओम प्रकाश सेखड़ी
अध्यक्ष, साधना परिवार

अनुक्रम

प्राक्कथन		5
1.	जीवन	9
2.	विकास	15
3.	अध्यात्म	22
4.	प्रभु	29
5.	सुख	34
6.	दु:ख	39
7.	शुभ	43
8.	अशुभ	48
9.	मोक्ष	53
10.	ज़रा और मृत्यु	57
11.	हमारा निकृष्ट स्वभाव	62
12.	ऐषणा	67
13.	कर्म	71
14.	विकास का अधिष्ठाता	74

1
जीवन

सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण। हमारा सुखी या दु:खी होना इसी से निर्धारित होता है कि जीवन के प्रति हमारा क्या रुख है और उसको हम किस प्रकार स्वीकार करते हैं। इस पर यह भी निर्भर करता है कि जीवन से हम कितना लाभ उठाने में समर्थ होंगे।

यदि आप जीवन को भोग का स्थान समझते हैं तो भूल करते हैं। इससे आप झंझटों में फँसेंगे। वास्तविकता ऐसी नहीं है और आपका भ्रम टूट जायेगा।

सुख के पीछे दु:ख उसी प्रकार लगा है जैसे दिन के पीछे रात। किसी सुख के भोगते रहने से शारीरिक तन्तुओं की संवेदनशीलता नष्ट हो जाती है और उस सुख से मज़ा मिलना बन्द हो जाता है। किसी सुख के भोग की आदत पड़ जाने पर वह सुख सुख नहीं रहता। इसका अर्थ यह है कि सुखानुभूति के क्षणों को आप स्थाई नहीं बना सकते। सुखानुभूति अनुभव के क्षणों में ही तिरोहित हो जाती है। सुख क्षणिक है और वह संग्रह करके नहीं रखा जा सकता।

लेकिन कदाचित यह विचार उठे कि सुखानुभूति को अधिकाधिक गहन बनाकर उसे दीर्घकाल तक स्थिर किया जा सकता है। यह सदा सम्भव नहीं है और जब कभी सम्भव हो तो मनुष्य को पतित कर देता है। केवल मज़े के लिये सुख का भोग मनुष्य की ऊँची और सूक्ष्म क्षमताओं को नष्ट कर देता है। सुख को ही जीवन का लक्ष्य बनाना इच्छाओं का और मनुष्य के अन्दर की निकृष्टतम प्रवृत्तियों का दास

बन जाना है। यह स्थिति अधिक काल तक नहीं चलने दी जा सकती। समाज अथवा स्वयं व्यक्ति की शारीरिक अवस्था इस स्थिति से विद्रोह करके उसके मीठे सपनों का बलपूर्वक अन्त कर देते हैं। कुछ थोड़े से अभागे हैं जो इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकते हैं। क्या वास्तव में वे जिन्दा हैं ? उनका जीवन अवरोध की करुण कहानी बन जाता है, सारहीन मनोरंजन का निरानन्द अध्याय। जिन्हें इस प्रकार के जीवन का निकट से अनुभव है वे यह तथ्य जानते हैं।

क्या जीवन उपलब्धियों के लिये है ? इसलिये कि संघर्ष करते हुए उपलब्धियाँ प्राप्त की जायें जिससे हम दूसरों की तुलना में ऊँचे, अधिक बुद्धिमान और प्रतिष्ठित गिने जायें ? महान दिखते हुये भी यह आदर्श गलत है और जीवन के अर्थ की अज्ञता प्रकट करता है। इससे जवानी की गर्मी की बू आती है। इसमें अनुभूति की गम्भीरता का अभाव है और इसका कारण है दूरदृष्टि का न होना।

कामनाओं की दासता विफल होती है क्योंकि उसकी सन्तुष्टि कभी नहीं होती। प्रारम्भ में स्वेच्छा से कामनाओं का शिकार बन जाने पर जब इनके दृढ़ पंजे आपको जकड़ लेते हैं तो करुण क्रन्दन करने पर भी आपकी मुक्ति नहीं हो सकती। अपने बन्धुओं से अधिक ऊँचे उठ जाने और प्रतिष्ठित होने का विचार क्यों उठता है ? आप सोचते हैं कि इस विस्तृत संसार में आपकी समानता कोई नहीं कर सकता और आप अद्वितीय हैं। यह आपका अहंकार ही आपको धोखा दे रहा है। सावधान हो जाइये। यह आपके अहंकार की उस राक्षसी 'कामना' से साँठगाँठ है। इसके शिकार मत बनिये। हे पूतात्मा ! यह समझ लीजिए कि मनुष्य समाज से अलग थलग होकर आपकी सत्ता सम्भव नहीं है। यह आवश्यक है कि आपमें सहानुभूति का भाव जाग्रत हो और परमात्मा की सृष्टि के जीवों के प्रति आपमें अधिक प्रेम का उदय हो।*

*उपलब्धियाँ प्राप्त करें परन्तु अपने बन्धुओं से ऊपर उठने के लिये नहीं। संघर्ष करें परन्तु स्वार्थ के लिये नहीं वरन् जनहित के लिये। सबके कल्याण के लिये जूझें। जो व्यक्ति इस लक्ष्य के प्रति सचेत हो गया है वह ऐषणाओं से ऊपर उठने के लिये कटिबद्ध है।

अन्यथा आपका यह मार्ग अत्याचार का पथ होगा। यह वही यातनाओं का मार्ग है जिसे सिकन्दर और तैमूर सरीखे महान विजेताओं ने अपनाया था। सावधान ! यह ऐषणा है।

स्वच्छ और पवित्र जीवन बिताने, आध्यात्मिक उन्नति करने और अतिमानुषी शक्तियाँ प्राप्त करने का उत्साह आपमें जग सकता है। लेकिन सचेत हो जाइए। यह कामना ही है जो पवित्रता के वेश में आपके अन्दर पनप रही है। यह अहंकार ही है जो आध्यात्मिक उपलब्धियों के रूप में अपनी तृप्ति चाहता है। यह भयावह है।

जीवन का अर्थ समझना अनिवार्य है इसके पूर्व कि आप जीवन का लक्ष्य जान सकें। अपना लक्ष्य निर्धारित करने से पहिले जीवन का उद्देश्य समझना आवश्यक है।

जीवन की एक योजना है और वह है विकास। आप परमेश्वर के अंश हैं और भगवती चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। जड़ता की अवस्था से प्रारम्भ करके उद्भिज और पिण्डज योनियों में से गुजारते हुये विकास के अधिष्ठातृ देव ने आपको मानवी स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है। अब अतिमानुषी स्थिति आपकी प्रतीक्षा कर रही है। आपका यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि आप उज्ज्वल भविष्य में भागवती चेतना प्राप्त करें और पुरुषोत्तम के दिव्य पूर्णत्व से एकरूप हो जायें। विकास की शक्तियाँ आपको उसी चरम उपलब्धि की ओर लिये जा रही हैं। इतना महान है जीवन का उद्देश्य ! इसको तुच्छ न समझें।

जीवन एक पाठशाला है जिसमें हमारी प्रगति के लिये अनिवार्य अनुभव होता है। विकास के अधिष्ठाता ने हमें यहाँ इसलिए रखा है कि हम यहाँ आवश्यक पाठ पढ़ सकते हैं और योग्यता प्राप्त करते हुए मानवी चेतना से अतिमानुषी चेतना के स्तर पर पहुँच सकते हैं। हमें हर प्रकार का अनुभव लाभ करना होगा – सुख का और दुःख का, अच्छाई का और बुराई का, पुरुष का और स्त्री का, विभिन्न जातियों

और देशों का जिससे हम आगे बढ़ सकें, और पर्याप्त ज्ञान लाभ करके अगला कदम उठा सकें।

जीवन अनुभव की पाठशाला है और विभिन्न अनुभवों का मूल्य उसी मात्रा में है जितना वे हमारी प्रगति में सहायक होते हैं। सुखों और दु:खों का निज का कोई महत्व नहीं है। वे आते हैं और चले जाते हैं। जितनी मात्रा में वे हमारी चेतना को जाग्रत करते हैं और हमारी अग्रगति में सहायता करते हैं उसी मात्रा में उनका मूल्य है। इस दृष्टि से सुख की अपेक्षा कष्ट अधिक मूल्यवान हो सकता है। साधारणतया कष्ट हमें पवित्र करता है। और सुख की भी अपनी उपादेयता है।

संघर्ष आवश्यक है। जितना अधिक पूर्ण हमारा जीवन होगा उतना ही अधिक हमारा अनुभव होगा और उतनी ही अधिक शीघ्रता से हम आगे बढेंगे। कर्म अनिवार्य है। हम क्रियाशीलता से पूरी तरह बच नहीं सकते हैं। जिन्दा रहने के लिए भी हमें कर्म करना पड़ता है और कर्म के द्वारा हम अपने विकास को उन्नत कर सकते हैं। सम्यक् (उचित) भावनापूर्ण कर्म करना विकास की क्रिया को पुष्ट करने की युक्ति है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें कर्म को कर्तव्य समझकर करना होगा, कर्म को पूजा-कार्य समझना होगा। हमें विकास के अधिष्ठातृ देव के चरणों में अपने कर्मों की भेंट चढ़ानी होगी। कर्म विकास का मार्ग है अत: इसी भावना से कर्म को स्वीकार कीजिए।

जीवन में सुख मिलेगा और दु:ख भी, सफलता और विफलता भी। अपने विभिन्न पक्षों से युक्त जीवन एक अटल सत्य है। आपको इसे स्वीकार करना होगा। यदि आप अपनी उन्नति के लिए इसे अनिवार्य समझेंगे तो आप जीवन को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करेंगे। आपको शिकायत नहीं होगी अपितु आप इसका स्वागत करेंगे। इस तरह आप इससे अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। लेकिन यदि आप रोयें धोयें और विरोध करें तो आपका समय और शक्ति व्यर्थ के विलाप में नष्ट हो जायेगी। यह ध्रुव सत्य है। तब मूर्खता क्यों की जाये और

नासमझी से विरोध करके अपने उत्तम जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ क्यों खोया जाये।

विकास के अधिष्ठाता की दृष्टि हमारी दृष्टि से बहुत अधिक विस्तृत है। हमारे विकास की समस्याओं को हमारी अपेक्षा वह बहुत ज्यादा अच्छी तरह समझता है। वह उनके सभी भेदों और मर्मों को जानता है। उसके विधान के अनुसार ही हमारी परिस्थितियाँ और अनुभव घटित होते हैं। हमें कष्ट होता है क्योंकि ऐसी उसकी इच्छा है, और ऐसी उसकी इच्छा इसलिए है कि कष्ट हमारी प्रगति के लिए आवश्यक है। वह कृपालु पिता है, वह कल्याणमयी और स्नेहमयी माँ है, वह निर्दयी आततायी नहीं है। यदि वह ऐसा न होता तो हमारा अस्तित्व ही कैसे सम्भव हो पाता ?

आप कदाचित आक्षेप करें कि प्रत्येक कष्ट की उपयोगिता हमारी समझ में नहीं आती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कष्टों में उपयोगिता है ही नहीं। उन्नत होने के उपरान्त ही आप यह समझ सकेंगे। आपका अन्तर स्वच्छ होना आवश्यक है, तभी आपको यह ज्ञान हो सकता है। आपको कामनाओं से मुक्त होना होगा और आन्तरिक सन्तुलन प्राप्त करना होगा, तभी आपके ज्ञान चक्षु खुलेंगे। अधीर न हों और एक अज्ञानी और हठी बच्चे की तरह व्यवहार न करें। समय आयेगा जब आप सब कुछ समझ जायेंगे; लेकिन आपको उस ऊँची पहाड़ी के शिखर पर पहुँचने के लिये तैयार होना आवश्यक है।

अपनी वर्तमान स्थिति को समझिये। इस पवित्र मार्ग पर इंच-इंच बढ़ते हुए और एक-एक सोपान चढ़ते हुए आप अपने विकास की योजना बना लें। अपने वर्तमान धर्म (कर्तव्य) को दृढ़ता से स्वीकार कीजिए। कामनाओं और अहंकार के माध्यम से आपको बढ़ना है और ज्यों-ज्यों इनके बीच में से आप अग्रसर होंगे, यह आपको सुख और दुःख का अनुभव करायेंगे। आप आगे मार्ग पर दृष्टि जमाये रहें। आप इनसे ऊपर एक बार में नहीं उठ सकते। यह शर्म की बात नहीं है कि आप आज

विकास की सीढ़ी के निचले सोपान पर हैं। प्रत्येक व्यक्ति को कभी न कभी वहाँ रहना पड़ता है। जो सीढ़ी के शिखर पर पहुँच चुके हैं वे एक दिन उसी स्थान पर थे जहाँ आप आज खड़े हैं। अपने को तुच्छ न समझें, और न अपने से नीचे वालों से घृणा करें।

जीवन विकास की पाठशाला है। यहाँ हमें सरल पाठ पढ़ने हैं और कठिन पाठ भी। यदि हम चाहें तो भी उनसे भाग नहीं सकते। इच्छा या अनिच्छा से हमें आगे बढ़ना है। तब फिर इस विशाल और महान पाठशाला में शिक्षित होने के विशेष अधिकार को प्रसन्नतापूर्वक क्यों न स्वीकार करें। अपने को आमन्त्रित करने वाले इस चरम उपलब्धि के महान सौभाग्य को प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार कीजिए। आनन्द मनाइये कि आप विकास के अधिष्ठाता और परम गुरु के हाथों में हैं। कर्तव्य में संलग्न रहिये क्योंकि कर्तव्य के द्वारा आप अपने उन्नति के पथ खोल सकते हैं। कर्तव्य इसलिए भी करिये कि कर्म करते हुए ही अपने गुरुदेव द्वारा निहित कार्यभार का आप सम्पादन कर सकते हैं। प्रतिदिन नई उत्तेजनाओं की खोज में अपना जीवन बरबाद न करें। अपने स्वत्व के विवेकहीन उत्कर्ष के प्रयास में जीवन को उलटा मोड़ न दें। व्यर्थ के विरोध में इसे नष्ट न करें। जीवन अमूल्य है। हे ईश्वर पुत्र, सावधान ! हे अमृत पुत्र, सावधान ! !

2
विकास

हम सभी विकास के पथ पर आगे बढ़ रहे हैं। विकास के अधिष्ठातृ देव की चेतना का स्वयंस्फूर्त प्रवाह हमें अतिमानुषी ऊँचाइयों की ओर ले जा रहा है। यही प्रवाह हमें मानुषी स्तर पर लाया है और विकास की दिशा में आत्म प्रयास की सम्भावनाओं के प्रति इसने हमें जागरूक किया है। अनजाने ही हम विकास की धारा में जड़त्व के स्तर से आगे बढ़ आये हैं और विकास की शक्ति ने अभी भी हमारा परित्याग नहीं किया, बल्कि हमारे योगदान के बिना भी हमें आगे बढ़ा रही है। अपनी मूर्खताओं से हम अल्पकाल के लिये – सदा के लिये कदापि नहीं – इस धारा में अवरोध उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु अपने प्रयास से हम विकास की धारा के प्रवाह के साथ-साथ अग्रसर हो सकते हैं।

आप ऐसा समझ लें कि हम एक नदी में पड़े हैं, जो अपनी गति से बहती जाती है। जो कोई स्वयं को इस प्रवाह में छोड़ देता है उसे नदी अपनी गति के साथ आगे ले जाती है। जो धारा के साथ तैरता है उसकी गति तीव्र हो जाती है। जो धारा के विरुद्ध तैरता है वह क्षण भर के लिये अपने को स्थिर रख सकता है, केवल क्षण भर के लिये; क्योंकि विकास की नदी असीम वेग से बह रही है, और कोई मनुष्य या देवता उसका विरोध अधिक समय तक नहीं कर सकता। हमें देर-सवेर अपनी नियति की प्राप्ति करनी ही है। इससे छुटकारे का अवसर हमें नहीं दिया जायेगा।

हमारे चारों ओर विकास की क्रियाओं के विभिन्न स्तर दिखाई पड़ते हैं। जड़ पदार्थों, पौधों, जानवरों और मनुष्यों की कोटियों में, और प्रत्येक

कोटि के व्यक्ति असंख्य विभिन्न स्तरों पर विद्यमान हैं। हमारी अभिरुचि मानव समाज में अधिक है। इनमें से कुछ ने तो अभी हाल ही में मनुष्य की योनि पाई है। वे बच्चों की भाँति अल्प अनुभव वाले हैं यद्यपि शरीर से वे वृद्ध दिखते हैं। दूसरे, देखने में तो बच्चे हैं, उम्र में छोटे परन्तु वास्तव में विकास की दृष्टि से प्रौढ़ हैं। हमारी आध्यात्मिक आयु भी होती है, और विकास में उसी का महत्व है, शारीरिक आयु का नहीं।

हमें सभी प्रकार के अनुभवों का संग्रह करना है। मान और अपमान, शुभ और अशुभ, सुख और दु:ख, सभी में से होकर गुज़रना है। पवित्रता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें अपवित्रता का कडुवा घूंट पीना पड़ेगा। अनेक देशों और संस्कृतियों में रहने के बाद हमें आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त होगी। और विकास की इस महान सीढ़ी पर हमें क्रमश: एक-एक सोपान चढ़ना पड़ेगा। इसलिए किसी को तुच्छ मत समझो। घृणा करना अज्ञानता है। कौन जानता है कि कल हमें वह स्थान ग्रहण करना पड़े जिससे हम आज घृणा कर रहे हैं। जो नीचे सोपानों पर खड़े हैं वे हमारे आध्यात्मिक बन्धु हैं चाहे वे जानवर या पौधे ही क्यों न हों। वे करुणा के पात्र हैं। हमें यथाशक्ति उनके विकास की यात्रा में सहायता देनी चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान से दृष्टि दौड़ाता है। चूंकि हम लोग विभिन्न स्तरों पर खड़े हैं अत: हमारा सर्वेक्षण भी भिन्न-भिन्न होता है। इसमें आश्चर्य ही क्या यदि हमारे दृष्टिकोणों और मान्यताओं में इतना अन्तर है। हम सब एकमत नहीं हो सकते। हम सबके लिये एकमत होना स्वाभाविक नहीं हैं। अत: विभिन्नताओं को सहर्ष स्वीकार करें। अपने विचारों को दूसरों पर लादना बुद्धिमानी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन निष्कपट होकर अपने ढंग से निबाहना चाहिये और समाज में अपने दायित्व के कर्तव्यों का पालन करने की चेष्टा करनी चाहिये। उसके विकास का वही मार्ग है।

निराशा के लिये कोई स्थान नहीं है। इससे क्या बिगड़ता है यदि हमारे पैर कीचड़ में सने हैं। शनैः शनैः हम उठे हैं और थोड़ा-थोड़ा करके आगे भी उठेंगे। हमारी वर्तमान कमियों की यथासमय पूर्ति हो जायेगी। कल्याणकारी प्रभु हमें अपने प्रेमालिंगन में सम्भाले हुये है और हमें आगे लिये जा रहा है। तब निराश क्यों होते हैं ? धैर्य क्यों खोते हैं ? यह अधीरता किस लिये है ? क्या अपनी नियति की उपलब्धि के लिये ? वह तो ध्रुव निश्चित है और उचित समय में आपके पास आयेगी। आप बलपूर्वक अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। प्रत्येक वस्तु को अपने समय से घटित होने दिया जाये। अन्तिम सफलता पर दृढ़ विश्वास रखकर धैर्यपूर्ण अविराम गति से प्रयत्न करते जाइये। अधीर न हों। अधीरता से चेष्टाओं का विनाश होता है। धीरज छोड़ने से मनुष्य अपनी शालीनता खो बैठता है।

भौतिक शरीर का अन्त हमारे अस्तित्व का अन्त नहीं है। हमारे जीवनों की अनन्त शृंखला में यह एक कड़ी मात्र है। वर्तमान जीवन से हमारा संचित ज्ञान भविष्य की पूंजी बनता है। हमारा चालू खाता है। इस तरह बिना प्रवाह भंग हुये हम उन्नति करते जाते हैं। मृत्यु जीवन के नाटक का पर्दा है जिसके पीछे क्रिया होती रहती है। हमारे सामने अनन्त जीवन है। तब हम अधीर क्यों हों ?

क्या हम धैर्य इसलिए छोड़ बैठें कि मृत्यु के उपरान्त हमें मानुषी जीवन से नीचे स्तरों पर गिर जाने का भय है ? कदापि नहीं। मानवीय स्तर के नीचे हम वापिस जा ही नहीं सकते। हमें आगे बढ़ना है। अतः यह भय निकाल फेंकिये। हमारे सिर पर एक अत्याचारी शासक नहीं है वरन करुणामय मालिक है। हमें प्रकाश से अधिक उज्ज्वल प्रकाश की ओर, शक्ति से अधिक सबल शक्ति की ओर बढ़ना है जब तक कि हम परमात्मा के सौम्य आलोक में प्रवेश न कर जायें। हम परमात्मा के पुत्र हैं। पुरुषोत्तमी स्थिति हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। अपने बावजूद भी हम उस दिशा में अबाध गति से चलाये जा रहे हैं। वह

स्थिति हमारे लिये सुरक्षित है। उस सम्बन्ध में आप निर्भय रहें।

विकास के लिये स्वयं प्रयास कीजिये। अवश्यमेव जो भी सम्भव हो करें लेकिन उस प्रभु को न भूलें जो आपको आगे बढ़ाता जा रहा है। आपके प्रयत्नों की अपेक्षा उसका परिश्रम असीम मात्रा में प्रभावशाली है। स्वयं को उससे युक्त कर लें। यह आपका सर्वोत्तम कर्तव्य होगा। स्वयं को उसकी सेवा में समर्पित कर दीजिये। उसके सम्मुख निष्कपट भाव से स्वयं को खोल दीजिये। यही आपका अधिकतम बुद्धिमत्ता का मार्ग है। अपनी अलग लीक बनाने का विचार कष्टप्रद और व्यर्थ होगा।

अपनी चेष्टायें कीजिये मगर समानुपात की भावना को न खोइये। अपनी आँखों को मूंद करके विकास के विशाल दृश्य से हाथ न धो बैठें क्योंकि विकास की प्रक्रिया हर जगह जारी है। यह न भूलें कि विभिन्न रूपों में और अनेक प्रकार से प्रभु हम सबको आगे बढ़ाने में परिश्रम कर रहे हैं। यह न भूलें कि जीवन व्यापक रूप से अखण्डात्मक है और आप इससे अपना विच्छेद नहीं कर सकते।

किसी से न डरिये। न तो अशुभ से डरिये और न कष्ट से। प्रत्येक वस्तु को भली भाँति समझिये और यह परखिये कि विकास क्रम में इसका क्या स्थान है। घटनायें आती हैं और अपना पार्ट अदा करके चली जाती हैं। उन्हें अपना पार्ट खेलना है और इसीलिये वे आती हैं। जब तक उनका पार्ट समाप्त नहीं होगा वे जायेंगी नहीं, और पार्ट समाप्ति के बाद वे रुक भी नहीं सकतीं। विकास की माँग का सिद्धान्त ही ऐसा है। अत: अधीर न हों।

आलस्य भी न करें। निष्क्रियता से आपकी यात्रा लम्बी हो जायेगी। आलस्य आपको शोभा नहीं देता। आपको अनिवार्यत: उठना है और कर्मठ बनना है।

जान बूझकर आप अशुभ का अनुसरण न करें। जिसको यह ज्ञान है कि उसे अशुभ का अतिक्रमण करना है वह यह खतरा मोल नहीं लेगा।

निर्भय रहिये। दु:ख पड़ने पर ऐसा समझिये कि विकास के अधिष्ठाता का दूत आपका दरवाजा खटखटा रहा है। वह आपके प्रिय प्रभु का सन्देश लाया है। उसका अच्छी तरह स्वागत कीजिये। सम्भव है यह शक्ति और सन्तुलन का सन्देश हो; यह सहानुभूति, सेवा और प्रेम का पाठ हो।

जब तूफान ज़ोरों से उठ रहा हो, घनघोर घटायें छाई हों और बिजली का प्रहार आप पर हो रहा हो, स्मरण रखिये कि प्यारे प्रभु इस नाटक के सूत्रधार हैं। उनकी इच्छा आपके अन्तर में अपनी उपस्थिति की चेतना जाग्रत करने की है। वे आपको श्रद्धा और समर्पण की सीख देने पर उद्यत हैं। कितना अमूल्य, बहुमूल्य पाठ है यह ! इसलिए भय से आक्रान्त न हो जायें बल्कि प्रभु को पहचानें।

जब अशुभ की चोट से आपको कष्ट पहुँचे, जब आप नष्टप्राय हो चुके हों, तो यह अनुभव कीजिये कि मालिक आपके साथ है। उसका आदेश है कि आप सिर उठायें और दूर तक देखें। उसकी यह आज्ञा है कि आप झाड़ पोंछकर निर्मल बन जायें जिससे कि अपनी स्थिति से पतित न हो सकें। अशुभ और भय से स्वयं को पूर्णतया मुक्त कर लें। यह भी एक अमूल्य शिक्षा है। यह सीख ग्रहण कर लें तो ऐसी परिस्थिति दुबारा न घटेगी। विरोध न करें।

आहत हो जाने पर घावों के लिए शोक न करें। यह तो प्रभु का नश्तर चलाया गया है। उनको प्यार करें क्योंकि इन घावों का उद्देश्य अभिमान और मत्सर रूपी अधिक गहरे घावों से आपको नीरोग बनाना है जो आपके भीतर ही भीतर विष फैला रहे हैं। आपको उनका पता नहीं था। पर मालिक सब जानता था और उसकी इच्छा थी कि आप स्वस्थ हो जायें। यह नि:सन्देह उसका अनुग्रह है।

आप कहेंगे कि यह मार्ग कठिन है। माना यह दुष्कर अवश्य है। पर दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं है। परन्तु यह मार्ग है रोचक। और यदि आप प्रभु के स्नेहसिक्त आँचल की वायु का आभास पा जायें

तो यह मार्ग कठिन भी नहीं रह जाता। प्रभु के कृपापूर्ण स्पर्श की प्रक्रिया जब आप में होने लगेगी तो आप तमाम कष्टों को भूल जायेंगे। वास्तव में उस समय जीवन विजय का शाश्वत प्रवाह बन जाता है; यह आपके लिये एक आह्लादपूर्ण अनुभव है जब आप स्वयं को प्रभु की गोद में बैठे पाते हैं।

माथा पच्ची से कोई लाभ नहीं। सभी समस्याओं का समाधान आगे बढ़ने में है। रुकने और विलम्ब करने से पैरों में अधिक थकान हो जाती है। चलते रहिये।

अपनी स्थिति को पूर्णरूपेण स्वीकार कीजिए। यह मान लीजिए कि आप विकास के बीच किसी पड़ाव पर हैं। आपमें कमजोरियाँ हैं और बल भी। आपमें काम, क्रोध, लोभ और मत्सर है। सम्भवत: और भी ढेर सारा मैल आप में है जो आज दिखाई नहीं देता। सहर्ष और दृढ़तापूर्वक यह सब स्वीकार कीजिए। विकास के वर्तमान पड़ाव पर इन सबका होना स्वाभाविक है। अभी आप अधिकारी (सिद्ध) नहीं बने। इन सबका परिष्कार करना है और इसमें समय लगेगा। यह चिन्ता का कारण नहीं है। यह विकास का स्वाभाविक पथ है। जैसा दूसरों के साथ बीता है वैसा आपके साथ भी बीतेगा। जिस प्रकार पौधे की बेरन रोपने के दिन ही गगनचुम्बी नहीं बन सकती वैसे ही मनुष्य क्षण भर में ईश्वरत्व लाभ नहीं कर सकता। इसमें समय अवश्य ही लगेगा।

अपनी गन्दगी की सड़ी दुर्गन्ध को धैर्यपूर्वक सहिए। यह आपकी भविष्य की पवित्रता की ऊँचाई आँकती है। अपनी कमजोरियों का साहसपूर्ण निरीक्षण करें। क्योंकि यही आपके विकास के समर्थ सम्बल हैं। आपकी भोग की इच्छा भविष्य में आपकी प्रेम भावना में परिवर्तित होगी और आपका लोभ भविष्य में आपकी दानशीलता में परिष्कृत होगा। विकास के क्रम में इन सभी का पूर्णतया रूप-परिवर्तन होगा।

विकास सम्बन्धी यह ज्ञान संजोकर रखिये। आप जहाँ भी जिस क्षेत्र में जायें इसका क्रियात्मक प्रयोग कीजिये। यह जीवन के सम्यक्

दृष्टिकोण की कुन्जी है। यह जीवन को जीने योग्य और सार्थक बना देगी। धीरे–धीरे यह जीवन को हर्षपूर्ण बनायेगी और यथासमय इसको आनन्दमय कर देगी।

3
अध्यात्म

अध्यात्म को न समझने वालों के लिये अध्यात्म हौआ सा है। मेरे विचार में अध्यात्म से न तो जीवन का परित्याग होता है और न व्यक्ति की कोमल भावनाओं की हत्या। वास्तव में सभी त्रुटियोंयुक्त जीवन की पूर्ण स्वीकृति ही अध्यात्म है। यह जीवन के प्रति अखण्डात्मक दृष्टि है। जीवन का कोई पहलू इससे अछूता नहीं रहता। इसका लक्ष्य है जीवन की पूर्णता, उसकी पवित्रता, जो जीवन की समग्रता है। अध्यात्म के सम्बन्ध में गलत धारणा वाले व्यक्ति ही इससे घबराते हैं।

लोग जीवन को अलग-थलग भौतिक और आध्यात्मिक भागों में बाँटते हैं। यह अर्थहीन है। ईश्वर में सभी का समावेश है। विकास के अधिष्ठाता की दृष्टि के बाहर कुछ भी नहीं है। विकास के क्रम में सभी अभिन्न रूप से समाविष्ट हैं। जीवन की मोमबत्ती को दोनों ओर से जलाने वाला व्यक्ति भी विकास क्रम में वैसे ही सम्मिलित है जैसे कि ध्यान और प्रार्थना का अभ्यासी। गन्दगी में सना हुआ व्यक्ति भी उसी सीढ़ी पर है जिस पर शुद्ध जीवन व्यतीत करने वाला। वे केवल भिन्न-भिन्न सोपानों पर हैं। यह सभी आध्यात्मिक विकास के अन्तर्गत हैं। सभी अनुभव आध्यात्मिक होते हैं। सभी प्रयास आध्यात्मिक होते हैं। यह सभी योग देते हैं उस एक ही प्रक्रिया में जो सृष्टि में विभिन्न रूपों में घटित हो रही है।

व्यष्टि और समष्टि में समान रूप से ईश्वरीय सूत्र को खोजने का प्रयास है अध्यात्म। यह सर्वत्र कर्म में संलग्न परमात्मा को खोजने का प्रयत्न है, एकल जीवन्त कोश के स्पन्दन से लेकर मानव तक, रजकण

से लेकर पर्वत तक, किसान के नन्हें झोंपड़े से लेकर राज प्रासाद तक। यह उसके प्रकाश की झलक को पकड़ना है जो भौतिकवादी और अध्यात्मवादी में, पापी और सन्त में तथा चींटी और हाथी में एक सी विद्यमान है। इसमें सम्मिलित है दृष्टि का अनन्त विस्तार, बोध का उच्चतम शिखर, और यह सभी एक दृष्टिपात में समाहित हो जाता है।

भागवत व्यक्ति किसी का बहिष्कार नहीं कर सकता। वह किसी से घृणा नहीं कर सकता। उसे सभी को स्वीकार करना है, सभी का आलिंगन करना है। सबमें समान रूप से परमात्मा का निवास है। वह किसका त्याग करे ?

ऐसी है आध्यात्मिक दृष्टि। अध्यात्म मनुष्य को कर्म के अयोग्य नहीं बनाता। इसकी शिक्षा है कि कर्म आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग है। इसके अनुसार कर्तव्यपालन पवित्र है। यह व्यक्ति के विकास का पथ है। यह पूजा है क्योंकि विकास का अधिष्ठाता कर्म की भेंट स्वीकार करता है। जैसा उत्थान समुचित भावनायुक्त कर्म से होता है वैसा अन्य किसी प्रकार से नहीं।

विकास के लिये अनुभव अनिवार्य है। अत: जीवन के प्रति जुगुप्सा का प्रश्न ही नहीं उठता। सृष्टि की लीला रूपी ब्राह्मी यज्ञ में अधिक कुशलता से भागी होने का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये एकान्तवास एक अस्थाई उपाय है। यह कोई आदर्श नहीं है। यह महत्वाकांक्षा का विषय भी नहीं है। अपने आप में इसका कोई मूल्य नहीं है।

अध्यात्म जीवन से पलायन नहीं सिखाता। यह कायरता का प्रतिपादन नहीं करता। बल्कि बात उल्टी ही है। जीवन में समस्याओं का उठना अवश्यम्भावी है। दु:ख और असफलतायें स्वाभाविक हैं। उन्हें स्वीकार करना होगा, इसलिये नहीं कि वे अवश्य घटित होंगी। उन्हें प्रसन्नता से स्वीकार करना है क्योंकि वे द्रुतगामी उन्नति की सन्देशवाहिका हैं।

अध्यात्म का अर्थ संसार से उदासीनता नहीं है। इसका अर्थ है

नि:स्वार्थ प्रेम, सहानुभूति और सेवा। इसका तात्पर्य है स्वार्थ साधन का नितान्त अभाव। आध्यात्मिकता का राज्य होने से संसार आनन्द से भर जायेगा। इसमें जीवन सुखमय हो जायेगा जहाँ मनुष्य एक दूसरे का गला नहीं घोटते। वे प्रेम करते हैं, शान्त जीवन यापन करते हैं और दूसरों के जीवन में बाधक नहीं बनते। वे मनुष्य बने रहते हैं, मानव की संज्ञा के योग्य (मानवोचित गुणों से युक्त) अर्थात् परमात्मा की सन्तान।

अध्यात्म मनुष्य के सम्मुख भागवती जीवन का चित्र उपस्थित करता है। यह मनुष्य को अपनी श्रेष्ठ नियति के सम्पादन का आह्वान है। यह विकास के उच्चतर पक्षों का अध्ययन करता है, अतिमानुषी स्तर का और उसकी प्राप्ति का मार्ग दिखाता है।

इच्छाओं के ऊपर उठिये। क्रोध और काम के ऊपर उठिये। घृणा और द्वेष के ऊपर उठिये। मोह के ऊपर उठिये। जो कुछ भी निम्न स्तरीय है, जो दुर्गति का कारण है, जो मनुष्य को दबाये रखता है, सभी के ऊपर उठिये। किसी के नाश या दमन का प्रयत्न न कीजिये। इन सभी का यथासमय अतिक्रमण करना है। इनका अतिक्रमण अवश्यम्भावी है। उचित साधनों से आप अतिक्रमण की क्रिया को तीव्रतर कर सकते हैं और शीघ्र ही दिव्यत्व में प्रवेश कर सकते हैं। स्वयं चरम लक्ष्य की प्राप्ति करते हुये आप अपने छोटे भाइयों की परमार्थ प्राप्ति की प्रगति को द्रुतगामी बनाने में सहायता कर सकते हैं।

अध्यात्म दमन का प्रतिपादन नहीं करता और न विलासिता का पोषक है। यह भली भाँति समझ लीजिये। अपने पूरे अस्तित्व की व्यवस्था को बदल दीजिये जिससे विलासिता के लिये उसमें स्थान न रहे। अपने वर्तमान स्तर से विकसित होकर अपने स्वभाव का रूप ही बदल दें जिससे काम लिप्सा का रूपान्तरण शुद्ध प्रेम के प्रकाश में हो जाये। इस क्रिया से दमन का प्रश्न ही समाप्त हो जायेगा।

जीवन परमात्म तत्व की प्राप्ति का मार्ग है। जैसे-जैसे आप आगे

बढ़ेंगे सभी निम्न प्रवृत्तियाँ पीछे छूट जायेंगी। जितनी अधिक तीव्र आपकी प्रगति होगी उतनी ही तीव्रतर गति से आप इन प्रवृत्तियों को पीछे छोड़ देंगे।

अध्यात्म पाप की बात ही नहीं करता। उन्नति–पथ में होने वाली त्रुटियों की आवश्यकता अध्यात्म में मान्य है, और मनुष्य को गलतियाँ करने की अध्यात्म स्वतन्त्रता देता है। हमें अपने प्रत्येक कर्म का मूल्य चुकाना पड़ता है – यह नियम लाभप्रद है, शिक्षाप्रद है। यह विकास की प्रक्रिया में सहायक है। अध्यात्म निषेध की बात नहीं करता बल्कि विकास की योजना को समझने के लिये मनुष्य को सजग करता है। यह विकास क्रम में प्रत्येक वस्तु का उचित स्थान बताता है। यह मनुष्य को मूल्यों का सम्यक् ज्ञान देता है। यह धमकी नहीं देता और न मनुष्य को सदा के लिये गर्त में पड़े रहने का भय दिखाता है। उत्थान के लिये स्वतन्त्रता अत्यन्तावश्यक है। यह मनुष्य की गलती करने की स्वतन्त्रता का सम्मान करता है।

अध्यात्म उच्च स्तरीय जीवन का प्रतिपादन करता है लेकिन आपकी वर्तमान स्थिति को स्वीकार करता है। यह अधीर नहीं होता। इसे जानकारी है भविष्य के उस असीम जीवन की जिसमें उन्नति की सम्भावना है। यह नित्य नवीन आशा का सन्देश देता है। यह विफलता नहीं जानता और न नैराश्य। यह आगे और आगे बढ़ना जानता है। यह केवल सफलता जानता है। इसमें असफलता हो ही नहीं सकती। यह सुख से अधिक सुख की ओर ले चलता है।

जब जीवन के सभी सहारे नष्ट हो जायें तब भी आपको अध्यात्म का आलम्बन मिलेगा। जब प्रकाश के सभी साधन चुक जायें तब भी आपको अध्यात्म की ज्योति मिलेगी। प्रकट में दिखने वाली घोर अव्यवस्था में भी आप एक नियम खोज सकेंगे। नितान्त नैराश्य में आपको आशा मिलेगी। जब तीव्र व्याकुलता के कारण आप अपना गला काटने को उद्यत होंगे तब भी अध्यात्म रूपी माँ आपके पास आयेगी।

अध्यात्म आपको विश्वास दिलायेगा कि जीवन का एक अर्थ है और उद्देश्य भी। यह आपको बतायेगा कि संसार के अधमाधम व्यक्ति में भी जिन्दा रहने और प्यार करने की पर्याप्त योग्यता है। यह निपट निराशग्रस्त को आशा दे सकता है और मृतप्राय को जीवन।

आत्महत्याओं की संख्या बढ़ रही है। कारण ? मनुष्य-जीवन का मूल्य नहीं समझता। वह नासमझी से इसका इतना कम मूल्य आँकता है कि वह कोई मूल्य नहीं रह जाता। जीवन दो कौड़ी का है जिसे पलक मारते नष्ट किया जा सकता है। यह परिणाम है हमारे जीवन दर्शन का।

भौतिक लक्ष्यों को जीवन की उच्चतम उपलब्धियाँ मानना विनाश को निमन्त्रण देना है। ऐसा करना तो स्वयं को निम्न स्तरीय प्रकृति के हाथों सौंपना है। यह तो जान बूझकर कामना राक्षसी का शिकार बनना है। कामना सम्मोहन करके दास बनाती है। वह ऐसी अग्नि प्रज्वलित करती है जिसमें सर्वस्व भस्म हो जाता है। भौतिक लक्ष्यों से सन्तुष्टि नहीं मिल सकती। इच्छायें बढ़ती हैं, मनुष्य मनुष्य से ईर्ष्या करता है। वह डाही बन जाता है। वह शत्रुता करता है और संघर्ष करता है। वह निराशाग्रस्त हो जाता है। जीवन उसके लिए अर्थहीन हो जाता है और वह तुरन्त इसका अन्त कर देता है। यह विचार पूर्णतया तर्कसंगत है कि यदि जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्ति है तो सुख के अभाव में जिन्दा रहने का क्या अर्थ ? ऐसी अवस्था में आत्महत्या करना न्यायोचित माना जाना चाहिए। आश्चर्य, कि मनुष्य से उसके आत्महत्या के प्रयत्न की जवाबदेही ली जाती है। इस जीवन दर्शन के अनुसार तो मनुष्य को आत्महत्या का अधिकार होना चाहिये। तर्क न्याय की यह माँग है। संसार में विलासिता की प्राप्ति की स्पर्धा में सभी प्रथम स्थान नहीं पा सकते। लेकिन कोई भी दूसरा स्थान ग्रहण करने को तैयार नहीं है।

जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण भौतिक उपलब्धियों को अधिकतम

महत्व देता है मानो भौतिक सुखों से बढ़कर और श्रेष्ठतर और कुछ नहीं है। इसका फल क्या होता है ? युद्ध स्थल, बन्दियों के शिविर और स्वनिर्मित फाँसी का फन्दा ! इसका अन्त पिस्तौल की गोली से होता है जो अविलम्ब परलोक भेज देती है। इससे त्रासयुद्ध का जन्म होता है, उत्तेजनाओं का और भय का। यह मनुष्य को पशु से भी बदतर बना देता है।

ऐसा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण है। यह आत्मविरोधी है। यह सुख के वास्तविक स्वभाव की अज्ञानता पर आधारित है। इससे दृष्टि की संकुचितता व्यक्त होती है। गत शताब्दी ने इस विचारधारा का खोखलापन प्रमाणित कर दिया है।

यह कोई मूलत: नैतिक आचरण नहीं सिखाता। अधिक से अधिक यह पुलिस नैतिकता का समर्थन कर सकता है जिसका सिद्धान्त है कि ''चोरी करना बुरा नहीं है, लेकिन पकड़े जाना, चोर सिद्ध किये जाना और दण्ड पाना बुरा है। दुराचार बुरा है, इसलिये नहीं कि उसमें बुराई निहित है, बल्कि इसलिये कि वह दण्ड का भागी बन जाता है।'' यह तर्क इस दृष्टिकोण का दिवालियापन स्पष्ट करता है।

वस्तुओं के विकास-क्रम में जीवन के प्रति इस भौतिकवादी दृष्टिकोण का भी स्थान है। तर्क-बुद्धि के विकास से इच्छा के नियम को प्रश्रय मिलता है और वह अपनी बारी में उत्प्रेरित करती है निम्न प्रवृत्तियों को और अहंकार के साथ ही विचारशील मस्तिष्क को। इस क्षुद्र दृष्टि से किसी अन्य ऊँची वस्तु की सम्भावना नहीं है। प्राय: समूचा मानव समाज वर्तमान समय में विकास की इसी अवस्था से गुज़र रहा है और यदि ऐसे में दु:ख उठा रहा है तो कोई विस्मय नहीं।

भौतिकवाद में निहित अन्त:विरोध अर्थात् भौतिकवादी उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास उनके विनाश का कारण बनता है और इस प्रकार ऐसी भूमि का निर्माण करता है जिसमें शुद्ध ज्ञान के सिद्धान्त का आविर्भाव होता है। संस्कृति की स्वयं आमन्त्रित प्रताड़ना मनुष्य को

विश्राम नहीं लेने देती। मानवता प्रसवतुल्य पीड़ा झेल रही है।

अध्यात्म क्रियाशीलता से पलायन का समर्थन नहीं करता। बन्धन का कारण कर्म नहीं बल्कि कामना है। धन बन्धन में नहीं बाँधता, लोभ जकड़ता है। स्त्री अधोगति का कारण नहीं है, यह कामवासना है जो पतन कराती है। अध्यात्म जीवन के उच्चतर और सृजनात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है। यह सुखों का बहिष्कार नहीं करता वरन् यह सिखाता है कि सुख स्वयं उद्देश्य नहीं हैं। मानुषी जीवन का इससे अधिक महान उद्देश्य है।

आज मानव समाज विषम संक्रमण काल से गुज़र रहा है। मनुष्य की पीड़ा उच्च शिखर तक पहुँच चुकी है। उसकी अधोमुखी प्रवृत्तियाँ एक जागृत ज्वालामुखी की भाँति पिघली आग और पत्थरों की वर्षा कर रही हैं। मनुष्य त्राण पाने के लिये पुकार रहा है मगर यह व्यर्थ है। सम्बल भीतर से मिलेगा न कि बाहर से। शुद्ध ज्ञान का उदय ही मानव की समस्याओं का समाधान कर सकता है। अध्यात्म इस प्रभात का सूचक है, परन्तु इसकी महत्ता तभी समझ में आयेगी जब मानव उठने के लिये तैयार होगा। उसके पहिले नहीं।

4

प्रभु

क्या आप ईश्वर के अस्तित्व में शंका करते हैं ? बहुतेरे शंका करते हैं। जब मैं बालक था तब मुझे भी ऐसा अविश्वास था। मैं आस्तिकता और नास्तिकता के बीच दोलायमान था। अनेक बार मैं आस्तिकता के भाव में सोता और दूसरे दिन प्रातः काल नास्तिक होकर जगता और अन्त में मैं शंकालु (प्रत्यक्षवादी) हो गया। मेरी यह धारणा थी कि यदि ईश्वर है तो अपनी देखभाल कर लेगा। हमें उसके विषय में चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। संसार का व्यापार तो भली भाँति चलता जाता है। यह था मेरा निष्कर्ष; लेकिन यह दशा मेरी उद्दण्डता की चरम सीमा थी।

ईश्वर का अस्तित्व तर्कशास्त्र की समस्या नहीं है। यह जीवन की समस्या है। यह आपके स्वयं के विकास की समस्या है। इसका समाधान इस बात पर निर्भर है कि विकास की सीढ़ी पर आपकी स्थिति किस स्थान पर है। यदि आप निचले सोपानों पर हैं जहाँ आपको खींचतान की आवश्यकता है, यदि आपको अभी तक कामनाओं की ऊष्मा की, नस नाड़ियों की उत्तेजना की और अहंकार के उभार की आवश्यकता है, तो ईश्वर आपके लिये अर्थ नहीं रखता। आपके विकास के लिये अन्य वस्तुओं की आवश्यकता है, ईश्वर की नहीं। आप अवश्यमेव इन्हीं वस्तुओं की प्राप्ति करें।

जब आपको इन वस्तुओं का पर्याप्त अनुभव हो चुकेगा, जब आपमें सचेतना की वृद्धि हो जायेगी, जब आपमें गम्भीर विचारों की क्षमता का उदय होगा, और जब जीवन को समझने की इच्छा आप में जन्म लेगी तभी आप विश्वास करने की अवस्था में होंगे। तब आपको किसी

तर्क की आवश्यकता नहीं रहेगी। तभी विश्वास अर्थपूर्ण प्रतीत होगा और तभी यह विश्वास आध्यात्मिक आत्म-प्रयास का मार्ग आपके लिये खोल देगा। तभी आपका विश्वास जाग्रत श्रद्धा का रूप ग्रहण कर सकेगा। लेकिन उसके पूर्व आपका विश्वास या अविश्वास महत्वहीन है। यह केवल औपचारिकता है। यह आपके जीवन के किसी मर्मस्थल को नहीं छूता।

तो फिर वाद-विवाद में अपनी शक्ति क्यों नष्ट करें ? क्या हम ईश्वर का अस्तित्व उस व्यक्ति के प्रति सिद्ध कर सकते हैं जो अभी इसके लिये तैयार नहीं है ? हम ऐसा नहीं कर सकते। जिसकी आँखें अभी तक नहीं खुलीं उसको हम प्रकाश नहीं दिखा सकते। हम अधीर न होवें, समय आयेगा। अनुभव ही महानतम शिक्षक है। जीवन की कठिन चोटें ही अधिकतम प्रभावशाली तर्क हैं। जब विश्वास की आवश्यकता होगी तभी उसका जन्म होगा। विकास की माँग का सिद्धान्त सभी जगह लागू होता है।

आप यह दलील दे सकते हैं कि 'यदि विपत्ति ही के द्वारा कोई विश्वास करने के लिए बाध्य होता है तब तो ऐसा विश्वास निश्चय ही आत्मप्रवंचना है, क्योंकि प्रताड़ित व्यक्ति तो किसी भी वस्तु पर विश्वास कर सकता है।' परन्तु बात ऐसी नहीं है। विपत्ति विपद्ग्रस्त को झुकने के लिए तैयार करती है, यह उसके मद को झाड़पोंछ देती है और उसको ग्रहणशील बनाती है, यह उसकी चेतना में गहराई उत्पन्न करती है, और वह व्यक्ति उन चीजों का मूल्य समझने के योग्य हो जाता है जिन्हें समझने में वह अभी तक असमर्थ था।

आप ग़लत न समझें। हम न तो आपके सामने कोई दलीलें रख रहे हैं और न धमकी देकर आपमें विश्वास उत्पन्न करना चाहते हैं। यह हमारी मन्शा नहीं है कि आप विश्वास करें ही, जब आप इसके पात्र बन जायें तभी आपको विश्वास करना चाहिये। तभी आपका विश्वास सार्थक होगा, उसके पूर्व नहीं।

ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन कौन कर सकता है ? जिसको सर्वज्ञता का दावा हो वही इसकी हिम्मत करे। ऐसे व्यक्ति की हम वन्दना करेंगे। उसकी गणना हम जैसे मानवों में नहीं होगी। हम उसका मूल्य नहीं आँक सकते।

लेकिन यदि सम्पूर्ण संसार नगाड़े की चोट पर यह घोषणा करे कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो भी इसका कोई महत्व नहीं। हजारों गोरैयों के कारण बसन्त ऋतु का आगमन नहीं घटित होता। ईश्वर कोई संसद का बिल थोड़े है जो बहुमत के विरोध में पारित न हो सकेगा। मतदाताओं की गणना से सत्य का प्रतिपादन नहीं हुआ करता। अज्ञानियों की राय का, चाहे उनकी संख्या लाखों में क्यों न हो, कोई मूल्य नहीं। एक अकेले मनीषी का मत मान्य होता है। ज्ञानियों का कथन है कि ईश्वर है। उनका उद्घोष है कि ईश्वर है और उनकी तरह आप भी उसका अनुभव कर सकते हैं। आप निश्चय ही उसे जान सकते हैं। आप अपने अन्तरतम में, अपनी श्रेष्ठतम स्थिति में उसको अनुभूत कर सकते हैं। आप उसके साथ एकत्व स्थापित कर सकते हैं। आप प्रभु चैतन्य प्राप्त कर सकते हैं। पृथ्वी पर आप ईश्वरीय जीवन यापन कर सकते हैं। पूतात्मायें अपनी बोध की अनुभूतियों में जीवन बिताती हैं। यदि आप ईश्वरानुभूति का मूल्य चुकाने के लिये उद्यत हों तो यह आपके लिये आह्वान है।

और ये पवित्रात्मायें क्षुद्र नहीं हैं। ये युग पुरुष हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि 'ईश्वर की धारणा का विकास ऐतिहासिक दृष्टिकोण से खोजने पर पता चलता है कि इसका जन्म अन्ध युगों की अज्ञानता में हुआ। अज्ञात के भय से इसका प्रारम्भ होता है। आत्म-चेतनायुक्त और सभ्य मानवता को ऐसा ईश्वर सम्बन्धी विचार शोभा नहीं देता। इस अन्धविश्वास का हमें परित्याग करना चाहिये।' यह तर्क कुछ अंशों में सही है, लेकिन अधिक दूर तक साथ नहीं दे सकता। यह लक्ष्य से बहुत दूर है। ईश्वर के अस्तित्व और अनस्तित्व से इसका क्या

सम्बन्ध ? गेहूँ के विकास की कहानी इस समस्या को नहीं छूती कि क्या गेहूँ की रोटी से भूख मिट सकती है। यह तर्क तो केवल यह बताता है कि ईश्वर के प्रत्यय का विकास कैसे हुआ है ?

'मनुष्य अपनी अनुकृति में ईश्वर को बनाता है। यह कोरा आदर्शवाद है।' 'ईश्वर के विषय में मनुष्यों में कितना अधिक मतभेद है !' ऐसा आक्षेप किया जाता है। वास्तव में इसमें कुछ भी आक्षेप युक्त नहीं है। ईश्वर कोई साधारण स्थूल सत्ता नहीं है। अन्य वस्तुओं की भाँति न तो वह इन्द्रियों का विषय है और न परिमेय है। वह सभी का अतिक्रमण करता हुआ सभी रूपों में प्रकट है। देशातीत और कालातीत होते हुये भी वह अपने अनन्तत्व में देश और काल बनकर देश और काल के माध्यम से प्रकट होता है। कौन उसको माप सकता है और किस पैमाने से ? कौन उसका छायाचित्र बना सकता है ? वहाँ तक मन की गति नहीं। बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। तब यदि उस परम भागवती सत्ता के विषय में हमारे विचारों में भिन्नता हो तो आश्चर्य ही क्या है ? हम उसकी प्रतिमायें हैं। तब आश्चर्य ही क्या यदि हम भी उसको अपने अनुरूप समझें ? यह तो केवल सत्य को प्रतिबिम्बित करना है। वह तो सर्व गुणों का निधान है। तब इसमें क्या बुराई है यदि वह मानव को आदर्श रूप में भासता है ?

उसकी कलायें अनन्त हैं। मानुषी मस्तिष्क उसका अन्त नहीं पा सकता। सम्पूर्ण वैविध्य उस तक नहीं पहुँच सकता। हमारे विचारों में सम्पूर्ण वैविध्य उसकी अनन्तता को समझने में असमर्थ है। सन्त उसका अनुभव करते हैं। परन्तु अपने अनुभव से कोई उसको परिसमाप्त नहीं कर सकता। आप उससे एकत्व प्राप्त कर सकतें हैं। उसमें अपने को लीन कर सकते हैं, लेकिन उसको माप नहीं सकते। अनन्त मापक को सदैव व्यर्थ कर देता है। वह नित्य अनन्त है, वह अपरिमेय है।

उसके अस्तित्व को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं स्पष्ट है। वह सभी सत्ताओं का प्रमाण है। जो कुछ भी है उसकी सत्ता उसी

के कारण है। वही एकमात्र सत्ता है जो विभिन्न रूपों में व्यक्त हुई है। यह उसी का आलोक है जो सभी प्रकाशों में भासता है। यह उसी का प्रेम है जो सभी हृदयों में स्पन्दित होता है। यह उसी का जीवन है जो हम सब जी रहे हैं। वह सभी रूपों में व्यक्त हो रहा है। वह हमारी मानुषी दृष्टि की सीमा के परे है जो समग्रता को समझने में असमर्थ है। चींटी केवल एक पत्ते को जानती है लेकिन सम्पूर्ण वृक्ष को नहीं। मण्डूक का ज्ञान अपने कूप तक ही सीमित रहता है। वह विस्तृत संसार को नहीं जानता। हम ईश्वर के मात्र एक पक्ष को, उसकी सत्ता के एक क्षुद्र पक्ष को जानते हैं। हम उस सर्वशक्तिमान प्रभु को नहीं जानते यद्यपि हमारा जीवन और हमारी सत्ता सदा उसी में है।

प्रभु प्रत्येक वस्तु में व्यक्त हो रहा है, शुभ और अशुभ में, ऊँच और नीच में, सुख और दु:ख में। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह इन सभी से परे भी है। वह इस दृश्यमान जगत से अतीत है, अलिप्त, अविकारी, सदा पूर्ण, अपरिमेय परम प्रभु ! यह विशाल विश्व उसी की सत्ता का आश्चर्य है।

इतना ही जानना पर्याप्त है कि वह है। वह हमारे जीवन का जीवन, हमारे प्रकाश का प्रकाश, हमारे प्रेम का प्रेम है। वह हम सबका प्रेमास्पद प्रभु है।

हम उसी अखण्ड प्रभु चैतन्य की ओर उन्मुख हो रहे हैं। उस प्रभु को नमस्कार है ! उस देवाधिदेव को नमस्कार है।

5
सुख

सभी धनवान सुखी नहीं हैं और न निर्धन ही। मध्यम वर्ग के लोग भी सुख पर अपना एकाधिकार मानने का दावा नहीं कर सकते। एक ही आर्थिक स्तर के मनुष्य भी समान मात्रा में सुखी नहीं हैं। लेकिन जीविका मात्र उपार्जन करने वाले कतिपय परिवार सुखी और सन्तुष्ट हैं। अत: सुख का आधार क्या है ? क्या यह हमारी सम्पत्ति अथवा बाहर से मिलने वाली वस्तुओं पर निर्भर करता है ? मनुष्य की यह धारणा है कि वस्तु स्थिति ऐसी ही है। यह विश्वास अनजाने ही उसके सत्त्व में धंस गया है, अन्यथा यह संसार की विलास की वस्तुओं की प्राप्ति के लिये आज की तरह पागल न रहता।

वर्तमान युग की यह सबसे बड़ी भ्रान्ति है कि सुख और भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति का सीधा सम्बन्ध है। यदि सौ रुपयों से सुख की एक इकाई खरीदी जा सकती है तो दो सौ रुपयों से ठीक उसकी दुगुनी। शक्ति में परिवर्तन सम्पत्ति के अनुसार होना माना जाता है। अत: शक्ति और सम्पत्ति के साथ-साथ सुख में भी परिवर्तन होता है। इस विचार ने मनुष्य को पागल बना दिया है। सम्पत्ति पर अधिकार के लिये खुले युद्ध ने उसे मानवता से गिरा दिया है। इस प्रकार वह उसी सुख को नष्ट कर देता है जिसके लिये वह संघर्ष करता है। यह मानवी बुद्धि का तिरस्कार है।

मनुष्य का सुख लाभों पर निर्भर नहीं है और न उनके अभाव पर। यह न तो दूसरों द्वारा प्रदर्शित हमारे सम्मान पर आधारित है और न अपमान पर। आँख खोलकर चारों ओर देखने से इस तथ्य का सत्य स्पष्ट हो जायेगा। सुख का आधार न तो प्रशस्त जीवन निर्वाह है और

न कष्टपूर्ण जीवन।

एक तरह से सुख इन किन्हीं बातों पर निर्भर नहीं है। यह इस बात पर निर्भर है कि अपनी परिस्थितियों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया कैसी होती है। यह इस पर निर्भर करता है कि जीवन की स्थितियों को हम किस प्रकार स्वीकार करते हैं और दूसरों को हम क्या देने को तैयार हैं। सम्यक् स्वीकृति का अर्थ है समुचित सामंजस्य, और सुख का यही रहस्य है। इस अवस्था में हम दूसरों के हित में उच्चतम उत्सर्ग कर सकते हैं। इससे हमारे सुख की वृद्धि और हमारे उत्कर्ष की गति तीव्र होती है।

एक मनुष्य अपने धन की क्षति पर बैठा आँसू बहाता है, दूसरा इस हानि पर चिन्ता नहीं करता। वह सोचता है जो गया सो गया, आगे देखो। हो सकता है वह शीघ्र ही क्षति की मात्रा से अधिक लाभ प्राप्त कर ले और ऐसा स्थान पा ले जिसकी उसने कल्पना तक नहीं की थी। शोक करने वाला दूसरा व्यक्ति हताश होकर जन्म भर के लिये पंगु बन सकता है। मैंने ऐसे मनुष्य देखे हैं जो केवल धन की क्षति को ही नहीं, वरन् असफलता और उससे भी अधिक गम्भीर घटनाओं को प्रसन्नता से स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि प्यारे और सगे सम्बन्धियों की मृत्यु को भी उचित ढंग से स्वीकार किया जा सकता है। दैन्य का कारण बाहरी घटनायें नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो समान परिस्थितियों में सभी एक ही तरह दुखित होते। लेकिन ऐसा नहीं होता। सुख और दुःख का कारण हमारी मनोवृत्ति है यानि हम वस्तुओं को किस प्रकार स्वीकार करते हैं।

यह महत्वपूर्ण शिक्षा आपको ग्रहण करनी है। संसार को दोष देना बन्द कर दो। अपने सुख के अभाव के लिये अपने प्रारब्ध को दोषी न ठहरावें। अपनी वर्तमान स्थिति में आप सुखी हो सकते हैं। केवल उचित दृष्टिकोण रखिए। यदि आप सीखना नहीं चाहते तो कोई आप को सुखी नहीं कर सकता। उत्तम से उत्तम परिस्थिति भी आपको सुख

नहीं दे सकती। अपने दु:ख के निर्माता आप स्वयं हैं। जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलिये।

क्या आप विकास में विश्वास कर सकते हैं ? क्या आप प्रभु के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं ? क्या आप विकास की अधिष्ठात्री 'भगवती माँ' में विश्वास रखते हैं ? यदि आपका विश्वास सच्चा है और आप इस विश्वास का अर्थ समझते हैं तो आप दु:खी कैसे हो सकते हैं ? तब आप प्रत्येक परिस्थिति को अपने हित के लिये ईश्वरीय विधान के अतिरिक्त और कुछ नहीं मान सकते। प्रत्येक वस्तु का उत्तमोत्तम उपयोग आपको करना है। यदि आप ऐसा करने में समर्थ हों तो जीवन आपके लिये सुखों की एक शृंखला बन जायेगा, माँ की कृपा का अविरल प्रवाह।

आप कहेंगे कि यह शुद्ध आदर्शवाद है। नि:सन्देह यह आदर्शवाद है, क्योंकि यह माँग है आपसे अपनी दृष्टि ऊपर उठाने की। लेकिन यह व्यावहारिक आदर्शवाद है। यह आदर्शवाद वस्तुओं की सत्यता पर आधारित है। यह पूर्णतया व्यवहार-साध्य है। इसकी परीक्षा कर लें, परन्तु धैर्य के साथ।

आप कहेंगे कि शरीर में कष्ट होते हैं। हाँ यह यातनायें हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनका प्रयोजन है, उनकी शिक्षा और उपयोगिता है। वे व्यर्थ नहीं। आप उनसे भाग नहीं सकते। तो फिर उनको यथाशक्ति अच्छी तरह क्यों न स्वीकार किया जाये ?

जितने अधिक उचित ढंग से परिस्थितियों को स्वीकार करेंगे उतना ही अधिक आप दूसरों को दे पायेंगे। यह आपके पूर्व कर्म हैं जो आपकी वर्तमान परिस्थितियों के रूप में फलित हो रहे हैं। भूतकाल में आपने जो बोया था उसे आप काट रहे हैं। विकास के दृष्टिकोण से इनका सीधा महत्व नहीं है। यह तो शक्ति-क्षीण बन्दूक की गोली की तरह है। वास्तविक महत्व की बात तो यह है कि आप दूसरों को क्या दे सकते हैं। इसी से आपका निर्माण होता है। यह आपके विकास में प्रभावी

है। यदि आप प्रेम नहीं दे सकते और घृणा करते हैं तो आप अपनी क्षति कर रहे हैं। आप अपना भविष्य बिगाड़ रहे हैं। आप अपने विकास में सहायता नहीं कर रहे हैं। नकारात्मकता घातक होती है।

यदि आप प्रसन्नतापूर्वक दूसरों की सेवा नहीं कर सकते, यदि आप सेवा के अवसरों का तिरस्कार करते हैं तो यह अनिष्टकारक है। आप उन्नति के अवसरों से हाथ धो रहे हैं।

प्रेम, सेवा और त्याग के अवसर साधकों के लिये अमूल्य होते हैं। केवल हतभाग्य ही इनसे लाभ नहीं उठाते। आप जीवन में जितना अधिक दे पायेंगे उतना अधिक सुखी होंगे।

लेकिन आपको यह समझना है कि सुख जीवन का लक्ष्य नहीं है। समुचित सामंजस्य आवश्यक है। यह जीवन के सम्यक् ज्ञान से स्वत: घटित होता है। यह भावी उन्नति के लिये अनिवार्य है। समुचित सामंजस्य वस्तुत: सम्यक् जीवन की कला है। हमें जीवन का वरदान इसलिये दिया गया है कि ज्ञान और प्रेम के उच्चतर नियमों का प्रस्फुटन हो, परमात्म तत्व का पूर्ण विकास हो। परमानन्द की प्राप्ति में सुख कहीं पीछे छूट जाता है।

प्रसन्नता तो क्षण भर का रोमांच है। सुख हमारी आन्तरिक चेतना के ताल-बद्ध सन्तुलन की व्यापक अवस्था है। क्षणिक रोमांच का आधार कामनायें होती हैं। प्रसन्नता रूपी पहिये के तीन अरे होते हैं – कामना, उद्यम और तृप्ति। एक तृप्ति से दूसरी कामना का उदय होता है और इस प्रकार चक्र घूमता रहता है। यह अहम् की धुरी के इर्द गिर्द घूमता चला जाता है। मनुष्य कभी सन्तुष्टि नहीं पाता। क्षणिक रोमांचों की तलाश में पड़े रहना नासमझी है। जीवन का प्रयोजन श्रेष्ठतर है।

जीवन की सबसे बड़ी समस्या है सामंजस्य। यह निर्भर करता है जीवन के यथार्थ ज्ञान पर, हमारी जीवन की स्वीकृति पर और हमारी प्रतिक्रिया पर। इससे हमारा सुख और दु:ख निर्धारित होता है। हम स्वयं ही सुखी और दु:खी होते हैं और मूर्खतावश दुनिया को दोष देते हैं।

यह दायित्व आप स्वयं संभालिये। यदि आप इस दायित्व को वहन करेंगे तभी आप स्वयं को नये सिरे से ढाल सकेंगे और सुखी हो सकेंगे। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो आपकी सहायता दूसरा कौन कर सकता है ? अपनी सहायता स्वयं करने के प्रयत्न में यह पूर्व प्रतिबन्ध है कि आपमें उत्तरदायित्व की भावना हो। पूर्व इसके कि आप अपने विकास की गति तीव्र कर सकें आपको जीवन की कला अवश्य जाननी चाहिये।

आध्यात्मिक साधना के लिए प्रथम आधारभूत दो मौलिक पाठ हैं - सम्यक् ज्ञान और सम्यक् जीवन। इनके महत्व को कम न समझें। सत्य को जानें और तदनुसार जीवन यापन करें। सत्य ही से लक्ष्य की प्राप्ति सुलभ होती है।

6

दुःख

'दुःख मानव जीवन के चैन को नष्ट कर देता है। विकास क्रम में भला दु:ख का क्या सम्भव प्रयोजन हो सकता है ? यह व्यर्थ है।' ऐसा सोचने की हमारी प्रवृत्ति हो सकती है।

दु:ख निष्फल नहीं होता। दु:ख की अनुभूति के पश्चात् सुख की जैसी अनुभूति होती है वैसी अन्यथा न हो पाती। कड़ी गर्मी के उपरान्त होने वाली वर्षा की फुहार का मूल्य हम समझते हैं। पर्वतीय स्थानों पर रहने वालों की अपेक्षा मैदान के निवासियों को पहाड़ के आवास के सुख की प्रतीति तीव्रतर होती है। विरोधाभास के अभाव में संवेदनशीलता की वृद्धि सम्भव नहीं और सुख तथा चैन के विरोध का अवसर दु:ख ही प्रस्तुत करता है।*

दु:ख एक संकेतक है। यह सूचित करता है कि कहीं असामंजस्य है। असामंजस्य की स्थिति दु:ख का कारण है। रोग शरीर में असामंजस्य की अवस्था का सूचक है। यह प्राणों की पुकार है कि समुचित तालमेल स्थापित किया जाये। यह उपद्रवी तत्वों के विरुद्ध शरीर-संस्थान का विद्रोह है जो विजातीय द्रव्यों को निकाल बाहर करना चाहता है। जो रोग को इस दृष्टि से देखते हैं वे स्वास्थ्य के सन्देशवाहक के रूप में इसका स्वागत करते हैं। वे इसके संकेतों का अनुसरण करते हैं और समुचित सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। समुचित सामंजस्य उत्पन्न होते ही रोग भाग जाता है।

---

*पेट में अवाँछित पदाथों के रहते ही दर्द होगा। इनके बहिष्कृत हो जाने पर दर्द बन्द हो जायेगा।

शारीरिक कष्ट अन्य कारणों से भी होता है। कुछ जन्म से ही रोगी होते हैं। कुछ जीवन भर के लिये अपाहिज हो जाते हैं। इन अवस्थाओं में रोग की क्या उपादेयता है ?

किसी भी प्रकार से प्राप्त दु:ख हमारी चेतना को गहरा बनाता है। इसके फलस्वरूप संसार के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण अधिक विस्तृत और सन्तुलित हो जाता है जैसा अन्यथा नहीं होता। वह विनम्रता सीख जाता है। रोग शय्या पर असहाय पड़े हुए दर्पीले व्यक्तियों को मैंने विनम्र होते देखा है। इतना सुधारक है दु:ख। लम्बी बीमारी से शरीर का ही नवीनीकरण नहीं होता अपितु मन का भी होता है। रोग शय्या पर पड़ने से हम दया का मूल्य समझ जाते हैं। शारीरिक बल की गरमी में हम दूसरों को रौंदते चलते हैं और यह नहीं जानते कि इस प्रकार दूसरों को कितना आघात पहुँचाते हैं और उन्हें कितनी पीड़ा देते हैं। इन बातों का ज्ञान हमें उस समय होता है जब हम निपट निस्सहाय अवस्था में बिस्तर पर पड़े होते हैं। तब प्रेम और सेवा का मूल्य हम आँक पाते हैं। तब हम विनम्रता को समझते हैं। दु:ख से हमें वह शिक्षा मिलती है जो उपदेशों या पुस्तकों से नहीं मिल सकती। इस प्रकार की शिक्षा दीर्घकाल के ध्यान और पूजा भी नहीं दे सकते। विकास में दु:ख का महत्व अनुपम है।

दु:ख शक्ति और सन्तुलन प्रदान करता है। दु:ख के आने पर मनुष्य उससे बचने की अधिक से अधिक चेष्टा करता है परन्तु वह सदैव सफल नहीं होता। कभी कभी वह बच जाता है लेकिन दु:ख दुबारा अधिक ज़ोर-शोर से आता है और मनुष्य उसके जाल में फँस जाता है। उसे कष्ट भोगना पड़ता है। इस भोग की क्रिया में उसे अपनी सहनशक्ति का ज्ञान प्राप्त होता है। दु:ख का विधाता प्रभु इस अवस्था में उसे सहारा देता है। इससे उसे बल मिलता है। इस कटु अनुभव के फलस्वरूप जीवन के सुख उसको पहिले की तरह अपने स्थान से विचलित नहीं कर सकते। उसकी अन्तरात्मा को पूर्व के कटु अनुभव का स्मरण रहता है। इस प्रकार सुख और दु:ख दोनों में उसका सन्तुलन

स्थिर रहता है। अन्त में उसे यह प्रतीति होती है कि दोनों प्रकार के अनुभव क्षणिक हैं। दोनों में से किसी की स्थिरता की आशा नहीं की जा सकती। अत: किसी के पीछे पागल बने रहना निरर्थक है।

भावात्मक दु:ख और भी तीव्रतर होता है। किसी प्रियजन का बिछोह तलवार के घाव से भी अधिक दु:खद होता है। भावनात्मक दु:खों की जड़ में हमारे मोह और आशायें हैं। भावना के क्षेत्र में होने वाला दु:ख सत्य की ओर हमारी आँखें खोल देता है। हमें कष्ट इसलिए होता है कि हमें वस्तुओं की सत्यता का ज्ञान नहीं हैं। हम उन चीजों पर अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हैं जो वास्तव में प्रभु की है। हम अनित्य वस्तुओं को सदा के लिये अपने अधिकार में रखना चाहते हैं। यह सत्य का परिहास है। दु:ख के प्रहार हमको झूठी आशाओं और मोहों से पृथक कर देते हैं। दु:ख हमको इनसे मुक्त करने आता है। बिछोह के बिना किसे इन जंजीरों की ताकत का ज्ञान हो सकता है जो उसे वस्तुओं और व्यक्तियों के मोह में जकड़ कर दबाये हुए हैं ? असफलता और हताशा के अतिरिक्त कामनाओं के बन्धन की क्षमता का ज्ञान कौन करा सकता है ? भावना के क्षेत्र में कष्ट एक मित्र है। इसका मित्र के रूप में स्वागत करें और अपने लिये इसके सन्देश को ध्यान से सुनें। यह आपके लिये सत्य का सन्देश और मुक्ति का आह्वान लाता है। 'हे परमात्मा के पुत्र ! अपने पैतृक अधिकार के प्रति सजग हो जाओ। इन मोहों और आशाओं को झाड़ फैंको। ये तुम्हें संसार के बन्धन में डाले हुए हैं और तुम्हारे दु:ख के कारण हैं।'

विचारों के स्तर पर दु:ख व्यक्तित्व की जड़ों को हिला डालता है। बिना पैराशूट के आकाश से पृथ्वी पर फेंके जाने का अनुभव कितना त्रासदाई होगा। कुछ ऐसा ही अनुभव होता है जब किसी सम्मानित पद से किसी व्यक्ति को बदनामी में धकेल दिया जाये। जब किसी के बौद्धिक आधार हिल जाते हैं तो उसका सन्तुलन खो जाता है। हमारे मोहों और कामनाओं का स्थान बौद्धिक क्षेत्र में है। अहम् वहाँ का प्रबलतम तत्व है। इसे भीषण चोट लगती है। लम्बी चोट से तीव्रतर

कष्ट होता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मर्मस्थल क्षत विक्षत हो गये हैं। दु:ख का यह संकेत है कि मोहों और कामनाओं के साथ ही अहंकार से भी ऊपर उठना है। दु:ख हमारे विकास में सहायक है। यह हमारे आदर का पात्र मित्र है, शत्रु नहीं। यह ऊपर से आती हुई ईश्वरीय चेतना की पुकार है। इसे पहचानिये।

दु:ख सदा यह संकेत करता है कि कोई गड़बड़ी है। सामंजस्य बिगड़ा हुआ है। अज्ञान है। यह सामंजस्य स्थापित करने की पुकार है। नासमझ व्यक्ति अपने कष्टों के लिए दूसरों को दोष देते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति दु:ख की चुनौती को स्वीकार करते हैं और समुचित सामंजस्य के लिये उद्योग करते हैं। वे सदा के लिये दु:खों से ऊपर उठने की महत्वाकांक्षा रखते हैं।

विकास क्रम में दु:ख तभी तक आता है जब तक इसकी आवश्यकता होती है। मोह, कामना और अहंकार का अतिक्रमण हो जाने पर दु:ख का अस्तित्व मिट जाता है। आवश्यकता के नियम के अनुसार अपनी उपादेयता के क्षय हो जाने पर यह प्रयाण कर जाता है।

निश्चय ही दु:ख का आगमन भगवान की कृपा के रूप में होता है। यह विकास मार्ग में आपको प्रोत्साहित करने आता है। दूसरों को दोषी ठहराने की मूर्खता न कीजिये। दु:ख की आवश्यकता के ऊपर उठने की आकांक्षा रखिए। उच्च कोटि के शिष्य के लिये दण्ड की उपादेयता नहीं रह जाती।

7

शुभ

शुभत्व मनुष्य के श्रेष्ठतर स्वभाव का प्रतिनिधित्व करता है। सत्य, प्रेम, संवेदना, सेवा इत्यादि शुभ के अंग हैं। शुभ की नींव उच्चतर भावनाओं में स्थित है। शुभ तभी सार्थक होता है जब मानव में आत्म चेतना जगती है। शुभ और अशुभ का प्रारम्भ सहज पाशविक क्रियाओं में होता है। माँ अपनी सन्तति से प्रेम करती है और उनके लिये त्याग करती है। पशुओं में समूह ज्ञान होता है और वे समूह की सुरक्षा के लिये युद्ध करते हैं। प्रेम और त्याग की भावना पशुओं में भी होती है। कामना मनुष्य की श्रेष्ठ प्रकृति को प्रोत्साहित करती है और उसकी निकृष्ट प्रकृति को भी।

मनुष्य में स्थित शुभ पर मानव समाज आधारित है। किसी न किसी प्रकार शुभ की मात्रा अशुभ से अधिक है, नहीं तो सामाजिक ढाँचा छिन्न-भिन्न हो जाता।

विकास के प्रारम्भिक स्तरों में शुभ और अशुभ का सह अस्तित्व होता है। वही मनुष्य जो अपने पुत्र कलत्र के प्रति प्रेमपूर्ण, उदार और त्यागी होता है अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति पाषाण-हृदय हो सकता है। एक व्यक्ति सहृदय मित्र हो सकता है और घोर शत्रु भी। विकास की प्रगति के साथ-साथ शुभ और अशुभ दोनों प्रोत्साहित होते हैं। मनुष्य अधिक बुरे के साथ ही अधिक भला और अधिक दु:खी के साथ-साथ अधिक सुखी होता जाता है। धीरे-धीरे अशुभ की शक्ति क्षीण हो जाती है। शुभ प्रबल हो जाता है। एक समय आता है जब वह प्रज्ञान के आविर्भाव के योग्य बन जाता है। इस प्रकार अशुभ का निराकरण होता है। मनुष्य अहंकार की भावना के ऊपर, कर्तापन की

भावना के ऊपर उठ जाता है और इसके फलस्वरूप शुभ और अशुभ दोनों का अतिक्रमण करता है।

जब तक जीवन में शुभ प्रधान नहीं हो जाता तब तक समाधि–चैतन्य का उदय नहीं होता। प्रज्ञान मानवी चेतना का शुभ एवं अशुभ से त्राण करता है। प्रज्ञान में मनुष्य सन्तुलित रहता है।

शुभ को अपना कार्य सम्पादन करना होता है। इससे चेतना का विस्तार होता है। इससे शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है। इससे दूसरों के साथ ऐक्यानुभूति की वृद्धि होती है। इससे हृदय और मस्तिष्क में निर्मलता की उत्पत्ति होती है। दु:ख जनित घावों पर यह शीतल लेप का काम करता है। इससे अशुभ का परिहार होता है और विकास की गति तीव्रतर होती है।

शुभ का फल सुख है लेकिन क्या आपको इसकी आकांक्षा इसलिये करनी चाहिए कि यह सुख का साधन है ? नासमझ लोग चाहे ऐसा करें लेकिन आप ऐसा नहीं करेंगे। विकास का लक्ष्य सुख नहीं है तब फिर आप इसका लोभ क्यों करें ? आप शुभत्व के सुख को स्थाई नहीं बना सकते। यह अशुभ की भाँति ही बन्धन का कारण होगा। यह दोनों ही जंजीरें हैं। अशुभ लौह शृंखला है और शुभ स्वर्ण शृंखला। लेकिन हैं दोनों शृंखलायें ही। आपको इनके ऊपर उठना ही है।

शुभ में आसक्त न हों। यह आपको बन्धन में डालकर गिरायेगा। इसका पोषण इसलिए कीजिए कि यह विकास क्रम में सहायक है, और विकास का अधिष्ठाता ऐसा ही चाहता है; न कि इसलिए कि इसका पोषण करके आप अपने बन्धुओं की तुलना में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करें। इसका पोषण सबके कल्याण के लिये कीजिए।

अपने उत्थान में शुभ को व्यवधान न डालने दें। यदि आप इसमें आसक्त हो जायेंगे* तो यह अड़चन बन जायेगा। शुभ स्वयं विकास

*मैंने ऐसे व्यक्ति भी देखे हैं जिन्हें इसी बात का बड़ा दु:ख था कि वे स्थिति बिगड़ जाने के कारण पहले की तरह दान नहीं दे सकते थे।

का लक्ष्य नहीं है। यह भली भाँति समझ लीजिए। इसे केवल समाधि-ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करना है। प्रज्ञान की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए उसके लिए शुभ को अपना स्थान रिक्त करना पड़ेगा।

अकर्मण्यता शुभ नहीं है। असमर्थता शुभत्व की परिचायक नहीं। यह प्रमाद का द्योतक है। प्रमाद का अर्थ है प्रगति की हीनता। वह अच्छा व्यक्ति जो अमंगल की क्षमता नहीं रखता परन्तु शुभ के लिए भी सक्षम नहीं, विकास की ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ने के योग्य अभी नहीं हुआ है। उसकी स्थिति पक्के दुष्ट मनुष्य के नीचे है।

बहुतों में शुभत्व की भावना भय का परिणाम है। वे समाज से भयभीत हैं; वे भविष्य से भय खाते हैं, वे ईश्वर से डरते हैं। विकास के दृष्टिकोण से ऐसा शुभ गुणरहित है। भय पर आधारित शुभ अशुभ से भी निकृष्टतर है। इसके नीचे दमन किया हुआ अशुभ पड़ा है। इन दशाओं में दमन जीवन को नष्ट कर देता है, उसके प्रवाह को अवरुद्ध कर देता है। इस प्रकार की अवस्थाओं में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकती। दमन का अन्त अवश्य होना चाहिये। यह अत्यन्तावश्यक है कि पाश्विकता किसी न किसी रूप में प्रकाश में आवे और उसे प्रभावहीन कर दिया जावे। जीवन की ऊष्मा (यौवन के उन्माद) की वृद्धि अवश्य होनी चाहिये पूर्व इसके कि मनुष्य सामान्य रूप से आगे बढ़ सके।*

यह कहा जाता है कि अशुभ कामनामूलक है। विकास में कामनाओं के महत्व को कतिपय मनुष्य ही मान्यता देते हैं। धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य में कामनाओं की निन्दा की गई है। उनका उद्देश्य मनुष्य को डराकर शुभ गुणसम्पन्न और वैराग्यपूर्ण बनाना है। इसका उन अपरिपक्व व्यक्तियों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है जो अभी तक कामनाओं का अतिक्रमण करने के योग्य नहीं हुये हैं। वे अपने यौवन

---

*हम समाज में रहते हैं और इसकी सीमाओं से बँधे हुये हैं। अनेक के हित में व्यक्ति के विकास का कुछ अंशों में हमें त्याग करना पड़ सकता है। इसमें व्यक्ति को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। उसकी ओर से यह स्वेच्छापूर्वक त्याग का कार्य होना चाहिये।

के ज्वार में ही बुड्ढे हो जाते हैं। कुण्ठायें उत्पन्न हो जाती हैं और जीवन का उत्थान रुक जाता है। यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है। यह अधपके सेब को तोड़ने जैसा है। वह पक नहीं सकेगा, वह केवल सड़ जायेगा। कामनाओं के परे उठने के लिये अधीर न हों, न तो अपने लिये और न दूसरों के सम्बन्ध में। यथा समय शुभत्व का आगमन होगा।

अशुभ से दु:ख घटित होता है और शुभ से सुख। यह स्वत: स्पष्ट सत्य है। यह व्यक्ति पर लागू होता है और समाज पर भी। अशुभ अपने कर्ता में एवं समाज में भी असन्तुलन को जन्म देता है। शुभ का परिणाम है सन्तुलन और यह समुचित आत्मोत्सर्ग के द्वारा विस्तरण का कारण बनता है। यह समाज को स्थैर्य प्रदान करता है। परन्तु आधुनिक मस्तिष्क यह समझने में असमर्थ है। उसका विचार है कि अशुभ के अभ्यास से उसका हित साधन हो सकता है, यह भ्रम है। एक चोर चोरी करके अनेक चोरों को पैदा करता है और उसकी चुराई हुई सम्पत्ति भी किसी दिन चोरी में चली जायेगी। असत्य और स्वार्थ की नींव पर दूसरों के साथ स्थाई और सद्भावपूर्ण सम्बन्ध नहीं स्थापित किये जा सकते। दूसरों के प्रति आपके व्यवहार की प्रतिक्रिया किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय होगी ही। अपने कर्मों से आप भाग नहीं सकते।

मनुष्य दु:ख भोगता है मगर यह नहीं जानता कि अपने दुष्कर्मों का फल भोग रहा है। वह अपने आवास को सुव्यवस्थित करने की बजाय दूसरों के सुधार का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह नई जटिलतायें उत्पन्न कर देता है। वह अपनी बुराइयों को और अधिक बुराइयाँ करके सुधारना चाहता है। वह विकास की शक्तियों को धोखा नहीं दे सकता। उसे बुराइयों का प्रतिफल मिलता है। वह उसी चक्की में पिसता है जिसकी स्थापना उसने दूसरों को पीसने के लिये की थी।

उसके कर्मों की प्रतिक्रिया उसको दबोचती है और उसके चंगुल में वह कराहता है। अन्त में एक दिन उसकी आँखें खुलती हैं। वह

अपनी मूर्खता समझता है। अपनी भूलों के प्रति वह सजग हो जाता है, पश्चात्ताप करता है और अपनी गतिविधियों को सुधारता है। यह तभी घटित होता है जब उसका श्रेष्ठ सत्व जग जाता है। इसमें मनुष्य का दोष नहीं कि आज वह स्वयंसिद्ध सत्य का दर्शन नहीं कर सकता। यह उसकी अवस्था का दोष है। उसकी आँखें खुलने के लिए उसे अधिक अनुभव अपेक्षित हैं। विकास का अधिष्ठाता उसे निराश नहीं करेगा। अपनी प्रेममयी कृपा से इसकी व्यवस्था कर देगा और मनुष्य की उन्नति होगी।

8

अशुभ

सृष्टि की उत्पत्ति वर्णन करने वाले एक कथानक में कहा गया है कि ''आदम और हौआ ने नन्दन वन में निषिद्ध फल का आस्वादन किया था।'' आदम और हौआ आदि-युगल हैं। कामना निषिद्ध फल है। इस फल के आस्वादन के साथ ही आत्म चेतना की जागृति हुई है। यह शुभ और अशुभ के जन्म की परिचायक है। मनुष्य में शुभ और अशुभ का विवेक होता है। वह विवेक बुद्धि का प्रयोग कर चुनाव कर सकता है। पशु ऐसा नहीं कर सकते। मनुष्य अपने कर्मों का उत्तरदायी ठहराया जाता है। वह स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के ताज से भूषित है। ताज निश्चय ही ताज है यद्यपि वह काँटों से निर्मित है।* मनुष्य पशुओं से ऊँचा है। वह विकास की शक्ति से असहायावस्था में नहीं हाँका जाता। अपने भाग्य के निर्माण में उसे साझीदार होने का विशेष अधिकार प्राप्त है। कामना का उदय उसकी मानवता का अभिषेक है। यह मानवी विकास के इतिहास की एक महान घटना है। विकास के लिये आत्म चैतन्ययुक्त प्रयास के मार्ग में यह उसकी दीक्षा है।

कामना निम्न संवेगों जैसे क्रोध, भय, योनि-सम्पर्क इत्यादि को उत्प्रेरित करती है। यह लोभ और शक्ति के मोह को प्रोत्साहित करती हैं और अहंकार को भी उभारती है। मनुष्य पाशविक जड़ता का परित्याग करता है; मानो उसका नया जन्म होता है। कल्पना को पंख मिलते हैं। महत्वाकांक्षाओं से भरा एक नया संसार दृष्टिगोचर होता है। कामना गतिमान होती है। निम्न संवेग भी गति संचय करते हैं। दो संयुक्त चक्रों की भाँति वे एक दूसरे की गति को तीव्रतर करते हैं। मनुष्य की सम्पूर्ण

*क्योंकि अशुभ का परिणाम दु:ख है।

प्रकृति धीरे-धीरे उसकी अध:स्तरीय प्रवृत्तियों के चंगुल में पड़ जाती है। अशुभ उस पर शासन करता है। बुद्धि से सुसज्जित मनुष्य पाशविकता को भी परास्त कर देता है, शक्ति और आधिपत्य के मोह में पड़कर वह अपने बन्धुओं तक को दास बना डालता है। वह समाज में एक भीषण आततायी, एक घोषित आक्रामक के रूप में रहता है-मानवता के लिये एक अभिशाप।

परन्तु प्रत्येक निकृष्ट प्रवृत्ति अपना विनाश स्वयं करती है। इसमें अन्तर्विरोध होता है, नहीं तो इसका परिष्कार न हो सकता। किसी अन्य प्रकार से इसका निष्कासन कैसे हो पाता ? अशुभ के ऊपर उठने में कौन सी प्रेरणा मिल पाती ? अशुभ का परिणाम दु:ख है। इसकी प्रतिक्रिया बाहर से होती है। मनुष्य के दुष्कर्म उस पर उल्टा प्रहार करते हैं। वह आत्म चेतना - एक अधिक गहरी और सूक्ष्म चेतना - के प्रति जग जाता है। दु:ख उसे विचारशील और सम्वेदी बनने को बाध्य करता है। वह समझ जाता है कि अशुभ बुरा है। वह जान जाता है कि उसे अशुभ के पार जाना है। इस प्रकार वह यात्रा में अग्रसर होने के लिये तैयार हो जाता है।

अशुभ अपनी प्रतिकूलता से शुभ के उत्थान में सहायता करता है। अशुभ के बिना शुभ रह नहीं सकता। शुभ के कारण अशुभ का ज्ञान और उसका अतिक्रमण होता है। हमारी बौद्धिक चेतना में दोनों आवश्यक विरोधी पक्ष हैं।

मानवी विकास में अशुभ आवश्यक है। यह उपरोक्त द्वारा स्पष्ट हो गया है। लेकिन क्या इसका यह अर्थ है कि व्यक्ति अशुभ का अनुसरण करे क्योंकि यह आवश्यक है ? नहीं, कदापि नहीं। जिसका विवेक जाग्रत हो चुका है वह व्यक्ति अशुभ की आवश्यकता को पहिले ही पार कर चुका है। जो विकास में आत्म चेतनायुक्त प्रयास के लिये तत्पर है वह अशुभ के बहुत आगे जा चुका है। उसको यह अनुभव प्राप्त हो चुका है। अब अशुभ में फँसने से उसको जो कीमत चुकानी

होगी वह बहुत अधिक होगी।

अशुभ बुरा है यद्यपि आवश्यक है। अपने निर्धारित पार्ट को अदा करके यह विदा हो जाता है। इसका काम मनुष्य को कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करना है। इसे दु:ख लाना है और इस प्रकार मनुष्य को सचेत करना है। उसकी श्रेष्ठ और निकृष्ट प्रवृत्तियों के बीच इसे संघर्ष उत्पन्न करना है और इस प्रकार उसके अन्तर में असन्तोष की प्रक्रिया का प्रारम्भ करना है। इसका काम उसके चारों ओर अव्यवस्था का वातावरण उत्पन्न करना है और उससे परित्राण के लिये मनुष्य से ईश्वर की प्रार्थना करवाना है। आगे चलकर यही आध्यात्मिक प्रेरणा का रूप धारण करता है और साधक के ऐच्छिक आत्म प्रयास का अमूल्य पथ-प्रदर्शक बनता है।

विकास में अशुभ का एक स्थान है। विश्वस्त मित्र की भाँति यह आपका साथ देगा जब तक कि आपके लिये यह निरर्थक न हो जाये। इसका अतिक्रमण करते हुये आप पवित्रता और प्रज्ञान की महान ऊँचाइयों तक पहुँच जायेंगे। क्या यह आपका सुहृद नहीं है ? इससे घृणा क्यों ? इससे भय क्यों ? यह आपके लिये एक चुनौती प्रस्तुत करता है। इसे स्वीकार कीजिए। आप अशुभ को मार नहीं सकते। इसका नाश करने में आप कामनाओं का नाश करेंगे और अपना अन्त कर लेंगे। आपको इसके ऊपर उठना है। आपको उन प्रकाशमय लोकों की ओर बढ़ना है जहाँ कामना सांस नहीं ले सकती; जहाँ अशुभ रह नहीं सकता। और कोई मार्ग नहीं है। मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिये अशुभ क्या ही श्रेष्ठ वरदान है ! क्या आप इसमें भगवती कृपा का दर्शन नहीं कर सकते ?

आप अशुभ से एकबारगी छुटकारा नहीं पा सकते। एक अवस्था होती है जब मनुष्य को अपने अन्तस्थ अशुभ का ज्ञान नहीं होता। कुछ समय के उपरान्त वह सचेत होता है और इससे मुक्त होना चाहता है परन्तु हो नहीं पाता। उसकी श्रेष्ठ प्रकृति और निकृष्ट प्रकृति में लगातार

खींचतान होती रहती है। कभी निकृष्ट प्रकृति प्रबल होती है और कभी श्रेष्ठ प्रकृति। अशुभ की जड़ें मनुष्य में गहरी जमी होती हैं। उनको उखाड़ फेंकने में समय लगता है। अन्तिम रूप से छोड़ने के पहिले अशुभ प्रवृत्तियाँ बार-बार लौट आती हैं। उनके अकस्मात लोप होने का अर्थ है उनका दब जाना। भौतिक या अतिभौतिक स्तरों पर अशुभ प्रवृत्तियों की शक्ति का ह्रास करना आवश्यक है, तभी व्यक्ति पूर्णत: शुद्ध हो सकेगा। अत: आपको अपने विकास पथ में दीर्घकाल तक अशुभ का साहचर्य सहना पड़ेगा।

अपने अन्तर में अशुभ को छिपा जानकर निराश न हों। उसका अविलम्ब उन्मूलन करने के लिये अधीर न हों। उसका परिणाम हताशा होगी। अशुभ के निर्गमन पर विश्वास रखें। यह ठहर नहीं सकता। यह उसका निश्चित और पूर्व निर्धारित भविष्य है। आगे दृष्टि रखें। अपनी पूरी शक्ति से उन्नति का प्रयास करें। तीव्रतर प्रगति से आप अशुभ के क्षेत्र से शीघ्रतर बाहर हो जायेंगे। तब अशुभ आपसे सदा के लिये विदा ले चुका होगा। अशुभ पर प्रहार करने के लिये आपको असाधारण परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। आगे बढ़िये। अशुभ को अपनी स्वाभाविक मृत्यु प्राप्त करने दीजिए।

अशुभ के प्रति यही सम्यक् दृष्टिकोण है। दूसरों में इसे देखकर घृणा न करें। स्मरण रहे कि आप स्वयं इसी रोग से ग्रस्त हैं। यह विकास की आवश्यकता है। साथ ही कौन जानता है कि आपमें कितनी और अधिक बुराइयाँ निहित हैं जिनका आज आपको पता नहीं है ? कौन जानता है कि जो व्यक्ति आज आपसे निचले सोपान पर स्थित है आपसे अधिक तीव्र गति से ऊपर चढ़कर आपको थोड़े समय में पीछे छोड़ देगा ? अत: गर्व न करें। गर्व अज्ञान है। यह परिचायक है सम्वेदना और विस्तृत दृष्टि के अभाव का।

जब भी सम्भव हो दूसरों को अशुभ से ऊपर उठने में सहायता दें। विवेक को जागृत करें। उत्साह बढ़ावें। आशा और आत्मविश्वास

जगावें। प्रेम और शक्ति दें। यह चेतावनी है कि दूसरों का छिद्रान्वेषण न करें। अपने प्रति किसी प्रकार की घृणा को प्रश्रय न दें। यह आत्मघाती होता है।

सहानुबुद्धि का नियम बनायें। विकास क्रम में अशुभ के महत्व को समझें। इसकी उपस्थिति पर विश्वास रखें। इससे डरें नहीं। इससे घृणा न करें। आत्मविश्वास और धैर्य के साथ दृढ़तापूर्वक इसके ऊपर उठें। आपकी विजय ध्रुव निश्चित है। विकास की शक्तियाँ आपके साथ हैं।

9
मोक्ष

हम अमर हैं। एक अवधि के बाद शरीरों का नवीनीकरण होता है न कि प्रकाश का जो उनसे छनकर चमकता है। शरीर घिस जाते हैं और एक-एक करके फैंक दिये जाते हैं। तब हमें शरीरों का नया सेट मिलता है। उसे हम पुनर्जन्म कहते हैं। पुनर्जन्म लेने की आवश्यकता से निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं।

हम पुनर्जन्म क्यों लेते हैं ? क्योंकि यह हमारे विकास की माँग है। हमें अभी भौतिक क्षेत्र में पाठ पढ़ने हैं इसलिए यहाँ हमारा बार-बार जन्म होता है। बच्चा दिन प्रति दिन उसी कक्षा में क्यों जाता है ? क्योंकि उसने उस कक्षा के पाठ्य विषय को समाप्त नहीं किया है। स्नातक हो जाने पर वह उस कक्षा की उपयोगिता के ऊपर उठ जाता है। हमारी समस्या ठीक उसी के समानान्तर है। योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् हमें भविष्य में पुनर्जन्म की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

इस सांसारिक पाठशाला में हमें मानसिक चेतना का अतिक्रमण करना है। मानसिक स्तर के परे जाने के लिये हमें उन महान पाठों को पढ़ना है जैसे सुख और दु:ख में सन्तुलित रहना, ऐन्द्रिक आकर्षणों को अपने वशीभूत करना, आसक्ति, कामना और अहंकार के ऊपर उठना। ये पाठ सम्भवत: इस पृथ्वी पर ही पढ़े जा सकते हैं, सूक्ष्म लोकों में नहीं।

सन्तुलन वहीं सीखा जा सकता है जहाँ कठिन चोटें पड़ती हैं। जहाँ उथल पुथल नहीं होते वहाँ सन्तुलन की भावना का विकास नहीं होता। जैवी लोकों में स्थूलतम होने के कारण इस पृथ्वी पर ही कठोरतम

चोटें मिलती हैं। यहीं हमें प्रबलतम भौतिक और मानसिक प्रेरणायें मिलती हैं। हमारी चेतना इतनी निम्नस्तरीय और अविकसित होती है कि हमें उनकी (चोटों की) गहनतम अनुभूति होती है। भौतिक स्तर पर ही शीत और उष्ण का अर्थ है। सूक्ष्म में वियोग का कोई अर्थ नहीं है। वहाँ वान्छित व्यक्तियों से हम तुरन्त मिल सकते हैं। दूरी वहाँ महत्वहीन है। सूक्ष्मतर लोकों में हताशा और विफलता का भी लगभग अभाव है। अधिक परिश्रम किये बिना सूक्ष्म लोकों में कामना की पूर्ति हो जाती है। केवल नीचे के भौतिक जगत में ही अनुभव की चक्की कठोरता पूर्वक और बारीक पीसती है। अत: यहीं विकास में लम्बी छलांगें मारना सम्भव है। दूसरे लोक इसके आवश्यक प्रतिरूप मात्र हैं। इस पृथ्वी पर जन्म लेना सौभाग्य की बात है।

नि:सन्देह जन्म का परिणाम महान दु:ख है। लेकिन उससे डरें क्यों ? यह आवश्यक मूल्य है उस विकास का जो इस पृथ्वी पर सम्भव है। दु:ख भोग के विचार से मानव जीवन को अभिशाप समझा जाता है। भौतिक जन्म को बन्धन माना जाता है। इससे मुक्ति की प्राप्ति को मानवी अस्तित्व का चरम उद्देश्य माना जाता है। परन्तु यह एक ऋणात्मक और अत्यन्त संकुचित आदर्श है। वास्तव में यह मनुष्य का आदर्श बनने के योग्य नहीं है।

यह तो पाठशाला को कारागार मानने और उससे छुटकारा पाने को ही व्यक्ति की क्रियाओं का लक्ष्य मानने के सदृश है। हम यहाँ जेल में नहीं हैं। विकास का अधिष्ठाता जेलर नहीं है जो हमारे ऊपर पहरा देता है। हम यहाँ विकास के लिये हैं। उसने इस उच्चतम संस्था में हमें विशेष अधिकार युक्त प्रवेश दिया है क्योंकि वह चाहता है कि हम शीघ्रता से विकास करें। हमें जीवन दण्ड के रूप में नहीं मिला। इस प्रकार की दृष्टि अनुचित है। इस प्रकार के ऋणात्मक दृष्टिकोण की गम्भीर प्रतिक्रियायें होती हैं। फलस्वरूप हम प्रभु के विधान के अनुसार प्राप्त जीवन को स्वीकार नहीं कर पाते। हमारी यह गलत धारणा है कि प्रत्येक वस्तु दण्ड के रूप में आती है और अवश्य ही कष्टप्रद

होगी। इस धारणा से जीवन हमारे लिये दु:खों की एक अनन्त शृंखला बन जाता है। आवश्यक पाठों को न सीखकर हम मूर्ख कैदी की भाँति अपने भाग्य पर रोते और विलाप करते हैं या अबोध बच्चे की भाँति व्यवहार करते हैं जो अपने पाठों से जी चुराता है और पाठशाला से भाग जाना चाहता है।

पाठशाला के संयम से मुक्ति पाने का सर्वोत्तम उपाय है अपने पाठों का समुचित अध्ययन करना। कक्षा प्रति कक्षा से उत्तीर्ण होते हुए आप एक दिन पाठशाला छोड़ने के प्रमाण–पत्र की प्राप्ति के योग्य हो जायेंगे। पाठशाला में पुनरागमन की आवश्यकता से निवृत्त होकर आप इससे स्नातक बनकर निकलेंगे। इसी प्रकार जीवन की सम्पूर्ण शक्तियों को उन पाठों के अध्ययन में क्यों न लगावें जिन्हें हमें यहाँ पढ़ना है। इस प्रकार हम शीघ्र सुयोग्य बन जायेंगे और पृथ्वी पर बार–बार आने की आवश्यकता से परे हो जायेंगे। अपने पाठ पढ़ लेने के पूर्व विकास का अधिष्ठाता हमें पाठों को त्यागने की आज्ञा नहीं देगा। वह इस प्रकार की नर्मी नहीं जानता।

भौतिकता के बन्धन से मुक्ति को अधिक महत्व देने का कारण है हमारा जीवन के प्रति गलत दृष्टिकोण। आप अपने विकास की गति को तीव्र करने की बात करें। मानसिक चेतना के ऊपर उठने की सोचें अथवा भागवती चैतन्य की जागृति और स्थापना पर विचार करें। इससे आप अग्रिम चिन्तन करने लगेंगे। यह आपको अगला कदम उठाने के लिये उत्साहित करेगा। लेकिन मोक्ष पर गम्भीरता से विचार करते ही जीवन एक भार बन जायेगा। तब आप केवल उससे छुटकारा पाने के विषय में सोच पायेंगे।

हम अमर हैं। हम परम पुरुष के अंश हैं। हम विकास के दिव्य अधिष्ठाता के जीवन के साझीदार हैं। हम भौतिकता के हित में इससे बँधे नहीं पड़े हुये हैं। हमें अपने अन्तर में निहित पूर्णत्व को विकसित करना है और उसके लिये अनुभव आवश्यक है। इसीलिये हम स्थूल

शरीर धारण करते हैं और पृथ्वी पर उन्हीं में निवास करते हैं और अनुभव प्राप्त करते हैं तथा इस प्रकार क्रमशः अपने को प्रस्फुटित करते हैं। आवश्यकतानुसार समय-समय पर हम अपने व्यक्तित्व में परिवर्तन करते हैं। आवश्यकता है हमारे अपने उत्थान की। यह बाहर से हमारे ऊपर नहीं लादी जाती। तब फिर हम प्रसन्तापूर्वक जीकर इसकी पूर्ति क्यों न करें।

हमें मोक्ष की खोज नहीं करनी है। यह एक अवश्यम्भावी घटना है। पाठशाला का स्नातक पाठशाला में पुनः प्रवेश नहीं पाता। इसी प्रकार पृथ्वी के अनुभव में स्नातक हुआ व्यक्ति यहाँ फिर प्रवेश नहीं पाता। तब हम शिक्षक या इसी प्रकार के अन्य पद पर आ सकते हैं, विद्यार्थी के रूप में नहीं। तब इसकी चिन्ता क्यों करते हैं ?

परन्तु हम अपना आदर्श और ऊँचा रख सकते हैं। विकास का लक्ष्य प्रेम है। यह भगवान से सम्यक् और पूर्ण ऐक्य की उपलब्धि है। यह है सदा सदा के लिये उसका हो जाना। यह है दिव्य प्रेम की पूर्णता में अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को प्रभु के चरणों में समर्पित कर देना। यही है सदा के लिये प्रभु के साथ ऐक्य की प्राप्ति का उपाय। तब मोक्ष की बात क्यों की जाये ? यदि वह हमें नीचे पृथ्वी पर भेजता है तो हम अपने भाग्य को प्रसन्नतापूर्वक लाखों बार स्वीकार करेंगे। भौतिक स्तर पर भी जीवन आनन्दमय होता है जब भागवती चेतना हमें अपना ले। उसमें हमारी स्थिति होना शाश्वती मुक्ति है, यही नहीं वह अनिर्वचनीय आनन्द है।

इस पृथ्वी से निर्गमन की तनिक भी खोज क्यों की जाये ? इसलिये कि यहाँ जीवन क्लेशपूर्ण है, प्रभु के साथ ऐक्य में यह दशा समाप्त हो जाती है। मोक्ष को आदर्श मानना निरर्थक है।

दिव्य प्रेम करने वाला मनुष्य केवल झुकना जानता है: ''त्वदिष्टं भवतु, गोविन्द।'' और उसमें प्रभु की इच्छा फलीभूत होती है। मोक्ष अवस्था उसकी दृष्टि के लक्ष्य से बहुत नीचे छूट जाती है।

10
ज़रा और मृत्यु

मनुष्य बुढ़ापे से डरता है और मृत्यु से तो और भी अधिक डरता है। बुढ़ापा तो व्यक्ति को निकम्मा करके दूसरों के लिये असहाय भार बना देता है। मृत्यु उसको अपने प्रियजनों से विच्छिन्न कर देती है। अपने जीवन भर की कमाई का परित्याग करने के लिये वह बाध्य किया जाता है। अज्ञात लोक में जाने का विचार मात्र उसको हिला डालता है। मृत्यु का अनुभव बहुत दु:खदायी कहा जाता है। इससे वह भयाक्रान्त हो जाता है। डेमोक्लीज की तलवार की भाँति मृत्यु उसके सिर पर लटकती रहती है।

क्या आप मृत्यु रहित संसार की कल्पना कर सकते हैं ? वह हर क्षेत्र में जनसंख्या से ठसाठस भरा होगा और जीवन के लिये अनुपयुक्त स्थान होगा। इस प्रकार के संसार में जीवन निरर्थक होगा। जीवन का प्रयोजन असफल हो जायेगा। जिस प्रकार की दुनिया में हम रह रहे हैं उसमें मृत्यु आवश्यक है।*

क्या मृत्यु के बिना व्यक्ति उन्नति कर सकता था ? नहीं कर सकता था। विकास का क्रम लम्बा है। इसमें विभिन्न अनुभवों की आवश्यकता है – दरिद्रता और समृद्धि की, पवित्रता और गन्दगी की, अज्ञान और शिक्षा की, और प्रत्येक देश और क्षेत्र की। इसमें पुरुष योनि और स्त्री योनि दोनों प्रकार के अनुभवों की आवश्यकता है। क्या सब एक ही शरीर में सम्भव हो सकता था ? कदापि नहीं। स्वयं आवश्यकता ही

*आपका विचार हो सकता है कि प्रभु को ऐसी सृष्टि रचनी चाहिये थी जिसमें मृत्यु की आवश्यकता न होती। लेकिन यह नासमझी है। यह अपने आपको बहुत बड़ा, विश्व के महाप्रभु से भी महान् मान बैठने का नतीजा है।

हमको मरने के लिये बाध्य करती है और भिन्न परिस्थितियों में जन्म लेने के लिये भी जिसमें हम नये प्रकार के अनुभव प्राप्त कर सकें। एक देश से दूसरे देश को हम प्रयाण करते हैं, एक जाति से दूसरी जाति में, एक धर्म से दूसरे धर्म में। इस प्रकार इस आवश्यक अनुभव का संचय करते हैं। यह सम्पूर्ण संसार का कितना रोचक परिभ्रमण है।

अनुभव का आत्मसात करना भी मृत्यु के बिना सम्भव नहीं। मृत्योपरान्त दशाओं में हमारी चेतना विस्तृत हो जाती है। पूर्व जन्म के कर्मों की प्रतिक्रिया होती है और हमें नई शिक्षायें मिलती हैं। इसकी उपमा गाय से दी जा सकती है जो बिना चबाये जल्दी जल्दी घास निगल जाती है लेकिन बाद में जुगाली करती है। मृत्यु के उपरान्त भासने वाले अधिक उच्च और विस्तृत प्रकाश में हम अपने अनुभवों का फिर से रस लेते हैं। फिर आराम का समय आता है। नये जन्म के लिये हमें नवीन विज्ञानमय, काममय और प्राणमय शरीर से सुसज्जित किया जाता है जिससे कि नये भौतिक शरीर में प्रवेश करें। नया व्यक्तित्व हमारे अब तक की उन्नति का प्रतिनिधित्व करता है। पुराना शरीर व्यर्थ हो गया था अत: उसे फेंकना ही पड़ा। एक जीवन काल में साधारण गति से घटित होने वाले मनुष्य के शरीरों में परिवर्तन इतने अधिक हो जाते हैं कि दूसरे जन्म में उसको पहचाना नहीं जा सकता।

एक ही शरीर में रहते हुए मनुष्य अपनी आसक्तियों के ऊपर नहीं उठ सकता। अपने बन्धनों के प्रति सचेत होने के लिए उनसे नितान्त विच्छेद आवश्यक है। मृत्यु ही वह योग उपस्थित कर सकती है। इस प्रकार मृत्यु का आगमन आवश्यकता के रूप में होता है।

केवल मरने वाले व्यक्ति के लिये ही मृत्यु आवश्यक नहीं है। जो पीछे छोड़ दिये जाते हैं उनके विकास के लिये भी यह आवश्यक है। यह दायित्व को नये कन्धों पर डाल देती है। वे उसे झेलते हैं और उन्नति करते हैं। वह पीछे छूट जाने वालों के लिये अनुभव के कपाट खोल देती है। यह उनके लिये बाह्य और आन्तरिक सामंजस्य स्थापित

करने के लिये चुनौती के रूप में आती है। इसे स्वीकार करना ही है। मृत्यु के बिना मनुष्य का इतना उत्थान नहीं होता जितना हो सका है। एक पिता मृत्यु शय्या पर चिन्ता करता है कि मेरा पुत्र मेरी अनुपस्थिति में कैसे निर्वाह करेगा। परन्तु पुत्र नया बोझ बड़ी कुशलता से संभालता है। वह अपने पिता से अधिक सक्षम सिद्ध होता है। वह एक वर्ष में इतना अर्जन करता है जितना उसका पिता जीवन भर में नहीं कमा सका। लेकिन अपने पिता की मृत्यु के समय वह बिल्कुल दायित्वहीन युवक था। यह एक अकेला उदाहरण नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर हमारी सम्भावनायें प्रकाश में आती हैं और अन्य किसी साधन से उनका इतना प्रकटन नहीं होता जितना मृत्यु के द्वारा।

विकास की योजना को समझने वाले मरण के सम्बन्ध में रोते धोते नहीं। यह तो मृत्यु की सीमा के आगे के जीवन का मार्ग है जिससे और अधिक पूर्ण जीवन में लौट आना है। यहाँ रोने का क्या प्रयोजन है ? यह तो व्यक्तित्व के अभिनवीकरण की शर्त है, हमारे विकास के अनुभव का एक उपकरण।

बिछोह से हमारी आसक्तियों के प्रति चेतना जागृत होती है। इसका माप करके इसके परे उठने की आकांक्षा रखिये। आप शोक कर सकते हैं, 'मेरी नई जिम्मेदारियों, मेरे बोझों का क्या होगा।' उनसे डरें नहीं। उन्हें स्वीकार करें। वे आपकी तेज उन्नति का मार्ग खोल सकते हैं। 'ये मेरे बच्चे, इनका कैसा दुर्भाग्य !' (यह भी आप चिन्ता कर सकते हैं) लेकिन संघर्ष उनको उच्चतर कोटि का मानव बना सकता है। प्रतिकूल परिस्थिति उनमें ऊँची मानवता की चेतना जगा सकती है। विकास में इसीका महत्व है। महत्व ऐश और आराम का नहीं वरन प्रयास का है। उन्हें परिश्रम करना होगा और वे उन्नति करेंगे। वे कायरों की भाँति जीवन से डरेंगे नहीं वरन् वीर बनकर जिन्दगी का मुकाबला करने को तैयार रहेंगे और इससे अधिक से अधिक लाभ उठायेंगे।

संकुचित दृष्टि वाले और डरपोक न बनिये। बहादुर बनिये। आपके

अन्तर में प्रसुप्त शक्तियों और क्षमताओं के ऐश्वर्य के प्रति आपको सचेत करने के लिये मृत्यु का आगमन होता है। इसका सहर्ष स्वागत करें।

और, क्या आप शारीरिक यातना से भयभीत हैं ? मृत्यु इतनी क्लेशप्रद तो नहीं है। मरण काल में शरीर का आकुंचन और तड़पन जो हमें दिखलाई पड़ता है वह केवल प्राणमय कोष का अपने को स्थूल भौतिक शरीर के बन्धन से मुक्त करने का प्रयास मात्र है। यह सब घटित होते समय व्यक्ति को अधिकांश में अपनी शारीरिक दशा की चेतना नहीं रहती। वह जीवन-मृत्यु की देहली पर पहुँचा हुआ होता है। भयभीत न हों। मृत्यु तो भौतिक ढाँचे से सहजता पूर्वक फिसलकर बाहर निकलने की क्रिया है।

और यदि मरण कष्टप्रद होता तो भी क्या ? क्या हम अन्य प्रकार से दु:ख नहीं भोगते ? यदि हमारी उन्नति के लिये मरण आवश्यक है तो हमें उसका स्वागत करना चाहिये चाहे वह सुखद हो या दु:खद।* मृत्यु विकासशील जीवों का शुभचिन्तक मित्र है। यह विकास के अधिष्ठातृ देव की कृपा का प्रमाण है।

ज़रा के अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। यह मृत्यु का अग्रदूत है। मृत्यु की उपयोगिता ही इसकी आवश्यकता का स्पष्टीकरण है। विकास के लिये दु:ख भोग ही वृद्धावस्था की उपयोगिता का प्रदर्शन करता है। जीवन की योजना में इसका स्थान समझ लेने पर हमें वृद्धावस्था के लिये अब भय नहीं करना चाहिये।

स्थूल शरीर में ज़रा का आगमन जताता है कि जीवन तेजी से मुरझा रहा है और बहुत जल्दी ही यह किसी काम का नहीं रहेगा। इन्द्रियाँ

---

*यह कहा जाता है कि जन्म से पूर्व माता के गर्भ में वास दु:खदाई होता है। हिन्दू ग्रन्थों में उस समय की यातनाओं का विशद चित्रंकन किया गया है। उनकी सत्यता का प्रतिपादन करने में तर्क असफल है। उस दशा में हमारी चेतना भौतिकता के स्तर से बहुत ऊँचे रहती है। वर्षों के बाद ही हमारी चेतना उतर कर पूर्ण रूप से भौतिक स्थूलता के स्तर पर आती है।

जवाब देने लगती हैं जिससे संकेत होता है कि प्राणमय शरीर क्षीणप्राय हो गया है। भावनाओं पर नियन्त्रण खो जाता है जो इस बात का परिचायक है कि नियन्त्रण प्रणाली अर्थात सूक्ष्म दैवी जाल जर्जर हो गया है और अब नाड़ियाँ संवेगों के तनाव को सहने में समर्थ नहीं रहीं। मस्तिष्क निकम्मा हो जाता है क्योंकि भेजा जंग खा चुका है। इसके तन्तुओं की लोच नष्ट हो चुकी है। मनोमय कोष की भी शक्ति लुप्त हो गई है। सभी शरीरों की माँग नवनिर्माण की है। वे एक-एक करके सभी ज़राजीर्ण हो चुके हैं।

सभी शरीर सामूहिक रूप से जीव की अभिव्यक्ति और उसके अनुभव के उपकरण का काम करते हैं। इन सभी के पीछे कभी न बुझने वाला प्रकाश है। इन कोषों द्वारा प्राप्त अनुभव से लाभान्वित होकर जीव निरन्तर उन्नति करता जाता है। जीव कभी वृद्ध नहीं होता। ज़रा उस व्यक्तित्व पर प्रभाव डालती है जो कि जीव की अभिव्यक्ति का एक अस्थाई रूप है। आप ही वह ज्योति हैं। वृद्धावस्था से क्यों भय खाते हैं ? यह तो अन्तिम-नवनिर्माण का अग्रदूत है। इसका स्वागत कीजिए।

11
हमारा निकृष्ट स्वभाव

मनुष्य में बहुत कुछ है जो उसे शैतान बना देता है। कामुकता, लोभ, क्रोध इत्यादि से प्रभावित होकर वह मानव के अयोग्य व्यवहार करता है। यही (वृत्तियाँ) उसके निकृष्ट स्वभाव की परिचायक हैं। विकास क्रम में मनुष्य को इसी निकृष्ट स्वभाव से ऊपर उठना है।

शीघ्रता से अग्रसर होने की आकांक्षा रखने वाले के सम्मुख उसका नीच स्वभाव एक गम्भीर समस्या प्रस्तुत करता है। इसी कारण आध्यात्मिक साहित्य कामुकता, लोभ इत्यादि के विरुद्ध उपदेश देता है। ये मनुष्य के शत्रु माने जाते हैं अत: उनके विरुद्ध व्यापक युद्ध की घोषणा की गई है।

हमारे लिये अपने निकृष्ट स्वभाव को समझना आवश्यक है। हमें यह समझना आवश्यक है कि विकास में यह क्या पार्ट खेलता है। इसके प्रति भय और घृणा से भी हमें मुक्त होना है पूर्व इसके कि हम इसका अतिक्रमण कर सकें।

कामुकता पतनोन्मुखी काम शक्ति है। सम्भोग की इच्छा ही इसे पतित करती है। मनुष्य की कामुकता जगती है और वह प्राकृतिक सीमाओं का उल्लंघन करता है। पशु ऐसा नहीं करता। मनुष्य काम शक्ति का भोग करना चाहता है। इस प्रकार वह कामुक बन जाता है।

विकास की दृष्टि से इसकी क्या आवश्यकता है ? सम्भोग की इच्छा काम शक्ति को तीव्र करती है। यह मनुष्य में गहरी प्रक्रिया उत्पन्न करती है। काम शक्ति मनुष्य की सृजनात्मिका शक्ति है। यह बढ़ती है और साथ-साथ मनुष्य की क्षमताओं में वृद्धि होती है। नपुंसकों को किसी

महान उपलब्धि का श्रेय नहीं मिला। काम शक्ति क्रियाशीलता प्रदान करती है और समृद्धि भी। यह गहन अनुभवपूर्ण जीवन की शिक्षा देती है। यह मनुष्य के अहंभाव को सबल बनाती है और वह स्वावलम्बी बनता है, अर्थात् एक स्वतन्त्र इकाई।

यह मानवी चेतना को पृथ्वी में निम्नतम स्तर पर ले आती है और मनुष्य भौतिक जीवन से अधिकतम लाभ उठा सकता है। यह क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की एक गम्भीर शृंखला को जन्म देती है और उसके चारों ओर एक छोटे संसार का निर्माण करती है, कुटुम्ब के रूप में, जो उसकी भाव प्रधान प्रवृत्तियों की वृद्धि के लिये अधिक से अधिक विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत करता है। यह उसे प्रेम और आत्मोत्सर्ग का पाठ सिखाती है। यह आसक्ति का जटिल जाल बुनती है। काम शक्ति के कारण मनुष्य के लिये तथाकथित संसार की रचना होती है।

यह सब आवश्यक है यदि मनुष्य को पाशविकता के ऊपर उठना है। यह उसकी भावात्मक और बौद्धिक प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि के लिये अनिवार्य है। यह प्रज्ञान और प्रेम में परमोत्कर्ष की उपलब्धि के लिये आवश्यक है। यह काम की मौलिक शक्ति है जो ऊर्ध्वगामी बनती है और आध्यात्मिक लक्ष्यों के सामर्थ्य का रूप ग्रहण करती है। इसके पश्चात् यह दिव्य प्रेम में परिवर्तित हो जाती है।

क्या आपको काम शक्ति से घृणा करनी चाहिये ? क्या इसे शैतानी प्रवृत्ति कहना चाहिये ? नहीं, आप ऐसा नहीं कर सकते। इसे अपना पार्ट निभाना है। अपना पार्ट खेलकर यह चुपचाप खिसक जायेगी। लड़कर इस पर काबू पाने की चेष्टा निरर्थक है। इससे डरना बुद्धिमत्ता नहीं। इससे दबाव उत्पन्न होंगे। इससे घृणा करना अज्ञानता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आप विकास में इसके स्थान का महत्व नहीं समझते। समाधि चैतन्य की प्राप्ति का लक्ष्य रखिये। दिव्य प्रेम की अभीप्सा जागृत कीजिये। प्रेम की अभिवृद्धि कीजिये। अपने हृदय से पूर्ण रूप से उत्सर्ग करना सीखिये। अपने जीवन को प्रभु के चरणों में आत्म समर्पण का

रूप दीजिये। अपने जीवन को सुव्यवस्थित कीजिये। इस प्रकार शनैःशनैः आप काम वासना के ऊपर उठ जायेंगे। समुद्र में दूर जाते हुये पोत की भाँति यह तिरोहित हो जायेगी। अधीर न हों। इसे अपनी अवधि पूरी कर लेने दीजिये।

स्त्री से घृणा न करें। वह एक माँ है। वह भगवती माँ का प्रतीक है। उससे तो घृणा करें नहीं। यह स्त्री नहीं है जो छलती है। यह आपकी अन्तस्थ कामुकता है जो छलती है। स्त्री से घृणा न कीजिये बल्कि कामुकता के परे जाइये। उससे घृणा करना पापाचार है। यह अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देना है।

स्त्री पवित्रता की मूर्ति है। अपने आत्मसमर्पण से वह आपकी कामलिप्सा को शुद्ध कर सकती है। केवल उसे भागवती रीति से स्वीकार कीजिये, न कि पाशविक ढंग से।

और क्रोध ?

यह मनुष्य की पाशविक शक्ति के अधमतम रूप का परिचायक है। जब मनुष्य के अहं को चोट लगती है तो वह अपने सहयोगियों पर पशु की भाँति झपटता है। तब उसका विवेक सो जाता है। वह हिंस्र पशु की भाँति आचरण करता है और अपने क्रोध को पूरी छूट दे देता है।

इसकी प्रतिक्रिया अधिक शिक्षाप्रद है। क्रोध करने वाला दुःख पाता है और जिस पर क्रोध किया जाता है उसे भी पीड़ा होती है। क्रोध की आँधी शान्त होने के बाद पश्चात्ताप होता है। यह आत्मसंयम के लिये चुनौती है। अपने निम्नस्तरीय काममय शरीर पर अधिकार प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य की आन्तरिक सत्ता खूब ऊपर उठे। क्रोध के परिणाम उसे इसकी आवश्यकता अनुभव करने को विवश करते हैं। इसका अर्थ यह है कि धीरे-धीरे वह काममय और मनोमय के आगे समाधि चेतना तक बढ़ने के लिये प्रेरित किया जाता है जहाँ सन्तुलन सहज प्राप्य है।

क्रोध अहंभाव को प्रचण्ड और सबल कर देता है। यह सबलता इस अर्थ में होती है कि इससे अहंभाव गहरा हो जाता है और मनुष्य एक विशिष्ट अस्तित्व का निर्माण करता है। वह अपने साथियों से अलग थलग दिखता है।

परन्तु क्या इससे साधक के मार्ग में अवरोध नहीं उत्पन्न होगा ? आप यह पूछेंगे। निःसन्देह, ऐसा होता है। लेकिन अपने क्रोध के प्रति क्रोध करने से काम नहीं चलेगा। मुझे आश्चर्य होगा यदि आप क्रोध का दमन कर सकें। और यदि आप ऐसा कर भी लें तो यह हानिकर होगा। क्रोध को भली भाँति समझिये। इसके उद्‌गम को समझिये। यह समझिये कि अहंभाव में इसकी जड़ें कैसी जमी हैं। व्यक्तियों और परिस्थितियों का अधिक उत्कृष्ट और श्रेष्ठतम परिचय प्राप्त करके आपको क्रोध के ऊपर उठना अत्यन्तावश्यक है। जितना अधिक आप समझेंगे उन्हें उतनी अधिक सफलता से आप संभाल सकेंगे और उतना ही कम आप क्रोधित होंगे।

दूसरों के प्रति अधिक उदार समवेदना और विशाल प्रेम की सहायता से आप क्रोध के ऊपर उठें। तब आप प्रेम के द्वारा समस्याओं का समाधान कर सकेंगे, न कि हताशा में हाथ पैर पटक कर।

क्रोध करने का अर्थ यह स्वीकार करना है कि आप स्थिति को संभालने में असमर्थ हैं। यह पराजय की स्वीकृति है।

क्रोध एक महान चुनौती है। यह चुनौती है ऊँचे ज्ञान के लिये, विस्तृत संवेदना के लिये, विशाल प्रेम के लिये। यह आपके अन्तर के दिव्यत्व को चुनौती है कि वह प्रकट होकर आप पर छा जाये। चुनौती को स्वीकार करके क्रोध के ऊपर उठें। यह आप कर सकते हैं परन्तु क्रमशः।

मनुष्य के निकृष्ट स्वभाव में अभी और बहुत कुछ है। उसमें लोभ है, मत्सर, घृणा, ईर्षा इत्यादि हैं। उन सबकी अपनी उपयोगिता है। उनसे भय न करें। आगे बढ़ते हुये उनके ऊपर उठें।

मनुष्य में वर्तमान दोषों के कारण उससे घृणा न करें। उसके अन्तर में देवत्व और दानवत्व का सहवास है। इन दोनों के परे ईश्वरीय प्रकाश चमकता है। उस प्रकाश के विस्तार के साथ ही दानवत्व का अन्त हो जायेगा, देवत्व की वृद्धि होगी और वह उस प्रकाश में लीन हो जायेगा। दानवत्व और देवत्व भी प्रभु के विधान के अन्तर्गत ही हैं।

12
ऐषणा

अपने सुदृढ़ पंखों से ऐषणा आकाश को नापती रहती है। यह विभिन्न क्षेत्रों में विचरती है। धन, प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, अधिकार, सन्तान, साहित्य, विद्वत्ता, अनुसन्धान, अन्वेषण के माध्यम से यह उड़ान भरती है। शुद्धता और भक्ति, आश्चर्यजनक शक्तियों और साधुता के परिधान में साँस लेने के लिये भी बिना रुके हुये यह सातवें आसमान में भी बाण की भाँति प्रवेश करती है। ऐषणा मनुष्य को मोह लेती है। हर्ष विभोर करके मनुष्य को आत्मविस्मृतिपूर्ण क्रिया में झोंक देती है।

क्या व्यक्ति को सैषणा होना चाहिये ? क्या साधना-पथ में आकर व्यक्ति को ऐषणा का परित्याग करना चाहिये ?

समझ लीजिये। ऐषणा केवल अहं द्वारा परिवर्धित कामना है। कामना के परे तभी जा सकते हैं और अहंकार के भी, जब मनोमय स्तर का अतिक्रमण होगा। समाधि चैतन्य के प्रभामण्डल में वे जीवित नहीं रह पायेंगे। उस चेतना के उदय होते ही व्यक्ति आप्तकाम हो जाता है। तब उसे किसी वस्तु की कामना क्योंकर होगी ? वह आत्म में निवास करता है। अहंकार के आक्रामक विस्तार का उसके लिये कोई अर्थ नहीं रह जाता।

परन्तु आपको ऐषणा का विनाश नहीं करना है। उसका यकायक परित्याग नहीं करना है। आपको विकास की योजना समझनी पड़ेगी। जीवन के विभिन्न व्यापारों का मूल्य समझिये। तब आप जानेंगे कि इनकी पंक्ति में ऐषणाओं का स्थान कहाँ पर है। आपकी चेतना के आवरणहीन होते ही वे झड़ जायेंगी। केवल मार्ग का अनुसरण करें।

ऐषणायुक्त होना कोई पाप नहीं हैं। विकास के प्रारम्भिक सोपानों में व्यक्ति का सैषणा होना नितान्त स्वाभाविक है। उससे जोश पैदा होता है। इससे गहरी प्रसन्नतायें और निराशायें प्राप्त होती हैं। इस प्रकार के अनुभव आवश्यक हैं। प्रत्येक को इन्हें प्राप्त करना होगा। ऐषणा का बहिष्कार न करें। जिन अपरिपक्व जीवों को इसकी आवश्यकता है उन्हें प्रेरित करें। उनसे त्याग की चर्चा न करें। उससे वे अवसादग्रस्त हो जायेंगे। उन पर अकर्मण्यता छा जायेगी। उनका विकास रुक जायेगा। परित्याग विमूढ़-कारक बन जायेगा। अत: सावधान हो जाइये कि किसी प्रस्फुटनशील आत्मा को आप क्षति न पहुँचायें।

परित्याग ?

किसका परित्याग ? कर्मों का ? यह असम्भव है। क्रिया का पूर्णत: संन्यास कौन कर सकता है ? मृत्यु से भी व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। समाज में अपनी जिम्मेदारियों का परित्याग ? यह स्वार्थपूर्ण है। यह नासमझी है। अपने कर्तव्यों के पालन से हम विकसित होते हैं। उन्हें कष्टप्रद समझ कर हम उनके परित्याग की सोचते हैं। इस दशा में यह परित्याग नहीं है, यह तो पलायन है। इससे आप निकम्मे हो जायेंगे। आपकी उन्नति रुक जायेगी। विकास के लिये क्रियाशीलता की माँग होती है।

क्या आप सांसारिक सम्बन्धों का परित्याग करेंगे ? क्यों ? क्योंकि उनसे आसक्ति और दु:ख उत्पन्न होते हैं ? क्योंकि वे आपके कन्धों पर दायित्व का भार डालते हैं ? यह मानवीय नहीं है। इससे प्रेम का स्रोत शुष्क हो जाता है। विकास के मानवी स्तर से ऊँचे उठने के बजाय मनुष्य सूखी लकड़ी का कुन्दा बन जाता है। यह भयावह है।

क्या कर्म (क्रिया) बन्धन में डालता है ? नहीं। यह हमारी आसक्ति है जो बाँधती है। तब कर्म का परित्याग क्यों ? आसक्ति का परित्याग करें। कामना को छोड़ें।

क्या यह प्रेम है जो बाँधता है ? नहीं। प्रेम मनुष्य को मानवोत्तर

स्थिति की ओर उठाता है। यह आसक्ति है जो बाँधती है। आत्म-त्याग जो प्रेम का सत है मनुष्य को मुक्त करता है, न कि उसे बन्धन में डालता है।

क्या सम्पत्ति बाँधती है ? नहीं। यह परिग्रह की भावना है जो बाँधती है। उसका परित्याग कीजिये, न कि सम्पत्ति का।

क्या ऐषणा बाँधती है ? यह बाँध सकती है और मुक्त भी कर सकती है। अप्रौढ़ जीव को यह बाँधती है। यह उसको जकड़ करके जी तोड़ परिश्रम में प्रेरित करती है। परन्तु यह बन्धन उसके उत्थान के लिये आवश्यक है। भौतिक लाभों और अहंकारिक विजयों के लिये ऐषणा उस व्यक्ति के मार्ग में अवरोध खड़ा करती है जो अपने विकास-क्रम की गति को तीव्रतर करने के लिये सचेतन आत्म-प्रयास के मार्ग पर चलना चाहता है। उसको ऐषणा के सामर्थ्य को आध्यात्मिक अभीप्सा में परिणत करना होगा। प्रारम्भ में उसमें अहंकार का पुट होगा। यह आध्यात्मिक क्षेत्र में परिवर्तित व्यक्तिगत ऐषणा के बहुत कुछ समान होगा। लेकिन उसके विकास के साथ जैसे-जैसे उसका निकृष्ट मन शुद्ध होगा, उसका अहंभाव क्षीण होता जायेगा और इसका स्थान शुद्ध नि:स्वार्थ अभीप्सा ले लेगी।

इस तरह ऐषणा का रूपान्तर करना होगा। अभीप्सा को जागृत करना ही है। इसका जितना अधिक जागरण होगा, और जितनी गहरी यह होती जायेगी, उतनी ही लौकिक ऐषणाओं की पकड़ ढीली होती जायेगी।

धैर्य के साथ ऐषणा से बरतिये। आध्यात्मिक अभीप्सा के सूर्य का उदय होने दीजिये। तारागणों की भाँति ऐषणा मलीन होकर लुप्त हो जायेगी। उससे युद्ध करने की आपको आवश्यकता नहीं। उसका हनन करने की आपको आवश्यकता नहीं।

परित्याग को आदर्श मानकर बहक न जायें। उच्चतम संन्यास उसी प्रकार स्वत: प्राप्त है जैसे बढ़ते हुये खजूर का पतझड़। जैसे-जैसे आप ऊपर उठेंगे आसक्तियाँ और कामनायें स्वयं छोड़ कर चली जायेंगी।

बिना बाहरी परित्याग के आप संन्यासनिष्ठ हो जायेंगे। परित्याग करने का कर्म भी बन्धन का कारण बनता है। बलपूर्वक आरोपित संन्यास मनुष्य को शुष्क बनाता है और निर्जीव कर देता है।

सच्चा संन्यास प्रयासरहित होता है। यह स्वयं हो जाता है। यह प्राप्त नहीं किया जाता।

13
कर्म

कर्म हमारे प्रभु की, विकास के अधिष्ठाता की कार्यविधि है। हमारे विकास के हितार्थ वह स्वयं दिन रात अथक कर्म करता रहता है। कर्म ही विकास की प्रणाली है। वह कर्म करता है और दूसरे भी कर्म करते हैं। इस प्रकार यह विकास का शिक्षालय कर्म से गुंजायमान है। प्रभु के क्रिया-कलाप के अभाव में यहाँ मृत्यु जैसा सन्नाटा छा जायेगा। अभिवृद्धि असम्भव हो जायेगी। कर्म के बिना यह सृष्टि और अस्तित्व का लोक क्रियाविहीन विस्मृति के अन्धकार में डूब जायेगा।

मनुष्य को बहुत हद तक अपने कर्मों का चुनाव करने का विशेष अधिकार है। परन्तु यदि उसे विकसित होना है तो उसे कर्म करना ही होगा। क्रिया में गहनता के साथ-साथ अनुभव की सम्पन्नता बढ़ेगी और विकास की गति भी। जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाने से गति भी तीव्रतर होती है। यह बिल्कुल स्पष्ट है।

प्रमाद मनुष्य को कर्मत्याग का प्रलोभन दिखाता है। परन्तु क्रियाहीनता से जड़ता आती है अर्थात विकास शून्य हो जाता है। भविष्य में इसका फल होता है आध्यात्मिक मृत्यु। इस प्रकार आप अपनी सम्पूर्ण मानवता को खो देंगे। कर्म (अर्थात् कर्तव्य) के परित्याग से आप स्वयं को और समाज को, जिसमें आप रहते हैं, नष्ट कर देंगे। सचेत हो जाइये, यह साधुता का लक्षण नहीं है, यह आलस्य है जो आपको हाथ पर हाथ रक्खे हुये बैठे रहने का प्रलोभन देता है।

कर्म को बन्धन मानना भूल है। कर्म तो प्रसन्नता है, यह अभिवृद्धि है, कर्म नहीं है जो बन्धन का कारण है। यह फल की कामना है जो

बाँधती है। कर्म मनुष्य को नष्ट नहीं करता, यह चिन्ता है जो विनाश करती है। कर्म दु:ख का कारण नहीं बल्कि उसकी आसक्ति दु:खदायी है। अत: कर्म से आप क्यों भय खाते हैं ? कामना और आसक्ति का अतिक्रमण करिये। पुरस्कार की आशा के ऊपर उठिये।

कैसी दुविधा है ? कर्म के साथ कामना का आगमन होता है। छाया की भाँति आशा कर्म का अनुसरण करती है। हम इनका परित्याग कैसे कर सकते हैं ? कर्म करते हुये हम इनसे छुटकारा नहीं पा सकते और कर्म तो हमें करना ही पड़ता है, कर्म ही इनके ऊपर उठने का मार्ग है। बिना कर्म किये आप इनके ऊपर नहीं उठ सकते। इनके (कामना और आशा के) उदय होते ही इन्हें पहचानिये। भली भाँति समझ लीजिये कि ये दु:ख की जननी हैं। जान लीजिये कि इनको जाना ही है क्योंकि आप इनको भगाना चाहते हैं। कर्म कीजिये क्योंकि यह कर्तव्य है। समाज के कल्याण के लिये कर्म कीजिये। आपके कर्म का विशेष मूल्य है यह बात ध्यान में रखिये। यह धीरे-धीरे कामना और आशा का स्थान ग्रहण कर लेगा। परन्तु आपको दृढ़तापूर्वक कर्म करते चलना है। कर्म से चरित्र का निर्माण होता है। जब तक व्यवहार में न बरता जाये, विचारों और भावनाओं का प्रभाव क्षीण रहता है। तब तक ये निराधार और प्रभावहीन रहता है।

कर्म से संकल्प की जागृति होती है। इससे बुद्धि का व्यायाम होता है। इस प्रकार यह हमारे भाव-जगत को क्रियाशील बना देता है। आलस्य नैतिक पतन करता है। आलस्य को आध्यात्मिकता से सम्बद्ध करने वाले भूल करते हैं। एक विशाल आध्यात्मिक प्रासाद के निर्माण के लिये महान परिश्रम की आवश्यकता है। इसकी माँग है गहन व्यावहारिक क्रिया की।

व्यक्ति के सचेतन आत्म-प्रयास के लिये, उसके विकास की प्रगति के लिये क्रियात्मक जीवन से अवकाश ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। जीवन हमारी साधना का क्षेत्र है। क्रियात्मक जीवन से संन्यास

का अर्थ है साधना का परित्याग। जीवन स्वयं एक अविराम साधना है परन्तु उसी दशा में जब उचित रीति से इसे स्वीकार किया जाये। जीवनयापन एक कला है। सम्यक् जीवन से हमारी प्रगति तीव्र होती है। मौलिक रूप से आध्यात्मिकता का अर्थ है जीवन का सम्यक् ज्ञान और उसकी समुचित स्वीकृति। इसका अर्थ है जीवन का समुचित निर्वाह। इससे हमको जीने की कला की शिक्षा मिलती है।

कर्म पूजा है। इस पूजा का महत्व बढ़ जाता है यदि कर्म विकास के अधिष्ठाता के लिये किया जाये। वह आपके प्रेमपूर्ण परिश्रम की भेंट स्वीकार करेगा। भगवदर्थ कर्म करते हुये आप कामना और आशा से मुक्त हो जायेंगे। उसके लिये कर्म करने से आपमें सन्तुलन की वृद्धि होगी। उसको कर्म समर्पित करने से आप ईश्वरीय प्रेम से पवित्र हो जायेंगे। उसके हेतु कर्म कीजिये और वह आपको पूर्ण रूप से अपना लेगा। आप उसके हो जायेंगे और उसका निवास आपमें हो जायेगा जैसा आपका उसमें। उसके लिये कर्म करें तो आपको भागवती चेतना की उपलब्धि होगी।

निश्चित ही कर्म विकास का मार्ग है।

14
विकास का अधिष्ठाता

दिव्य प्रभु ही विकास का अधिष्ठाता है। उससे विश्व की उत्पत्ति होती है, उसमें इसकी स्थिति है और चिरान्त में उसमें यह पुनः लीन हो जाता है।

उसके संकल्प से ही विकास की योजना का निर्माण होता है। यही सभी प्राणियों के लिये निर्धारित मार्ग है जिस पर सभी को चलना ही है और परिपूर्ण और समग्र होकर प्रभु को पुनः प्राप्त करना है। वह विकास की पाठशाला का अधिष्ठाता है। उसने स्वयं इसकी नींव डाली है और ईंट-ईंट जोड़कर इस भवन का निर्माण किया है। अपने में से उसने कार्यकर्ताओं की सेना उत्पन्न की और उन्हें अपना कौशल और शक्ति प्रदान की। वे सभी काम पर जुट गये हैं। उनमें और प्रभु में एकरूपता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन सभी के माध्यम से प्रभु स्वयं कार्यरत हैं। शनैः शनैः यह प्रासाद उठता है। उसमें नयी विकासोन्मुख आत्माओं को प्रवेश मिलता है। सत्र से सत्र तक उन पर क्रिया होती है और एक कक्षा से दूसरी कक्षा में वे चढ़ते हैं। पुराने स्नातक बन जाते हैं। नयों का प्रवेश होता है। पाठशाला निरन्तर चलती रहती है यद्यपि विद्यार्थी बदलते रहते हैं और शिक्षक भी। विकास के अधिष्ठाता के हाथ सदा भरे रहते हैं।

विकास का अधिष्ठाता यज्ञ का अधिपति है। वह किसी बाहरी उद्देश्य से कर्म नहीं करता। उसका उद्देश्य हो ही क्या सकता है ? वह पूर्ण है और आप्तकाम है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं है। उसे किस वस्तु की आकांक्षा हो सकती है ? वह यज्ञ का अधिपति है और प्रेम के लिये परिश्रम करता है। प्रेम ही उसका श्रम है। प्रेम से उच्चतर और

क्या त्याग हो सकता है ? हम सभी के लिये – जो उससे उत्पन्न उसकी सन्तान हैं – वह प्रेम की पूर्णता से श्रम करता है। वह अविराम श्रम करता है। उसकी शक्ति अनन्त है और उसके लिये यह श्रम कभी असहनीय नहीं है। वह कभी थकता नहीं। विकास की यह पाठशाला उसके परम प्रेम का जीवन्त प्रतीक है।

उसकी चेतना अनन्त है। वह सर्वज्ञ है। भूत, वर्तमान और भविष्य उसके सामने स्वच्छ स्फटिक की भाँति स्पष्ट हैं। वह हमारे विकास के मार्ग का ज्ञाता है। वह हमारी विकास की आवश्यकताओं को जानता है। हमारे जीवनों का सम्पूर्ण मार्ग उसकी असीम दृष्टि के सम्मुख खुला पड़ा है। उनके अनुरूप ही वह हमारे कर्मों का विधान करता है।

वह कभी असफल नहीं होता। उसकी विधियाँ अनोखी हैं। जैवी विकास उसकी एक सूक्ष्म झलकमात्र हमें देता है। विकास के सिद्धान्त उसके महान कौशल के एक पक्ष का रहस्य खोलते हैं। वह हम सबको चतुरता से और संभाल करके हमारे लक्ष्य की ओर लिये जा रहा है।

वह सुख और दु:ख का विधान करता है। नि:सन्देह यह विधान हमारे कर्मों के अनुसार घटित होता है। परन्तु विधान का विकास की योजना के अनुरूप होना भी आवश्यक है। कष्ट पड़ने पर हम विद्रोह करते हैं, 'हमें कष्ट भोग कराने में भगवान कितना निर्मम है।' 'यह न्याय दयारहित प्रभु का है' ऐसी हममें भावना उठती है। लेकिन ऐसा सोचना अनुदारता है।

विधाता उस नासमझ माता की भाँति नहीं है जो अनुचित प्रेम दिखाकर बच्चे को बिगाड़ती है। पेट भरे होने पर भी यदि बच्चा अधिक खाने के लिये मचले तो केवल मूढ़ माता ही तरस खाकर उसकी माँग पूरी करेगी। इससे उसका पाचन बिगड़ता है। इससे दु:ख उत्पन्न होता है। दयावती धाय नवजात शिशुओं को रुलाती है। इससे उसके फेफड़ों की कसरत होती है। क्या आप यह जानते हैं ? सुख और दु:ख दया अथवा निर्ममता की कसौटी नहीं हैं। एक कुशल अध्यापक विद्यार्थी

से कड़ा परिश्रम करायेगा और आवश्यकता होने पर उसे डांटेगा। यह हमारी संकुचित दृष्टि है जो उसके प्रेम और दया का मूल्यांकन सुख से करती है।

वह आततायी नहीं है वह रोम के उन सम्राटों की तरह नहीं है जो क्रीड़ा प्रांगण में मानव हत्या को देखकर प्रसन्न होते थे। वे पाशविक थे। प्रभु उस कोटि में नहीं है। उनसे वह सर्वथा भिन्न है। हम जानते हैं कि वह शुद्ध दयाघन है। वह कृपालु और कल्याणकारी है। वह दयालु और प्रेमी है। उसके मुक्त अनुग्रह को सोचकर मेरा हृदय भर आता है। उसे विकास का अधिष्ठाता कहने की बजाय भगवती माँ पुकारना मुझे अधिक भाता है। अधिष्ठाता शब्द से मालिकपन की बू आती है। हमारे प्रभु का महान मातृत्व उससे नितान्त अछूता है।*

सांसारिक माँ से कहीं अधिक सुचारु रूप से भगवती माँ हमारी सार संभार करती है। यह सब उसी का विधान है। जिन परिस्थितियों से हम गुज़र रहे हैं उन पर उसी की अनुज्ञा है। हमारे साथ केवल वही घटित होता है जो हमारे कल्याण के लिये है। दु:ख और सुख भी हमारे ऊपर उसी की अनुज्ञा से आते हैं। वे उसी समय आते हैं जब हमारे विकास के लिये उनकी आवश्यकता है। अत: जो कुछ प्राप्त हो हमें उसका स्वागत करना चाहिये क्योंकि वह भगवती माँ से मिलता है। इससे मात्र हमारा कल्याण ही होगा।

आप विवेचना करेंगे कि 'ऐसा करना बहुत कठिन है।' हाँ, यह कठिन अवश्य है। परन्तु यदि आप इसे स्पष्टतया समझ लें तो धीरे-धीरे इसे स्वीकार करने की योग्यता आ जायेगी। 'चोट पड़ने पर व्यक्ति विचलित होता है।' यह मुझे ज्ञात है, लेकिन क्षमता में वृद्धि के साथ-साथ आपका लड़खड़ाना छूट जायेगा। उसकी कृपा से आप शान्ति के स्तम्भ बन जायेंगे।

---

*दिव्य प्रभु के सम्बन्ध में लिंग का प्रश्न नहीं उठता। भावनात्मक स्तर से ऊपर उठने पर लिंग भेद समाप्त हो जाता है।

भगवती माँ निश्चय ही कृपामयी है। वह अपनी कृपा के रूप में हम सबको विकास के पथ पर आगे ले जा रही है हमारी आवश्यकताओं की ध्यानपूर्वक तुष्टि करते हुये, सदैव हमें सहारा देते हुये, प्यार करते हुये और ऊपर उठाते हुये। हमें वह अपनी चेतना में सदैव इस प्रकार संभाले रहती है जैसे माता अपने बच्चे को अपनी गोद में। यह उसकी चेतना का प्रवाह है जो सब प्राणियों को नित्य सहारा देकर आगे बढ़ा रहा है। अपने अड़ियलपने के होते हुये भी हम अग्रसर हो रहे हैं और हमें किसी स्थान पर अधिक देर तक ठहरने की अनुमति नहीं मिलती।

लाखों आँखों से वह चौकसी करती है और इतने ही हाथों से कृतार्थ करने वह आगे बढ़ती है। उसमें कुछ न्यूनता नहीं है उसे कभी असफलता नहीं होती। वह सदा स्वयं को हममें उड़ेलती रहती है। उसको जानना ही उसे प्यार करना है। उसकी एक झलक मिलते ही व्यक्ति अपना सर्वस्व उसके चरणों में अर्पण करने को उद्यत हो जाता है। उसको समझने का अर्थ है सदा-सदा के लिये केवल उसी का हो जाने की आकांक्षा करना। उसके लिये जीने में और कर्म करने में आनन्द है। उसके लिये जीना विकास के लिये जीना है, व्यक्ति और समष्टि के विकास के लिये जीना है। यही मार्ग है भगवती माँ के साथ जीवन्त और पूर्ण ऐक्य खोजने का।

उसका प्रेम वर्णनातीत है, उसकी कृपा अनिर्वचनीय है। उसके चरणों में झुकना एक वरदान है। जब आप उसे पहचान जायेंगे तो जहाँ भी आप झुकेंगे वह आपकी अभ्यर्थना स्वीकार करने को उपस्थित रहेगी। जहाँ भी और जिस रूप में आप अपने प्रेमपूर्ण परिश्रम की भेंट चढ़ायेंगे, वह आपका उपहार स्वीकार करेगी। वह कर्म की अधिष्ठात्री है।

उसकी शक्ति अपरिमेय है। वह परमेश्वरी है। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से हम सब उसकी शक्ति के अधीन हैं। वह अगण्य ब्रह्माण्डों का आश्रय है। वह परमाणु और (अनन्त) ब्रह्माण्ड दोनों को समान रूप से प्रश्रय देने वाली शक्ति है।

दिव्य प्रभु ही विकास का अधिष्ठाता है। वह भगवती माँ है। अपने अस्तित्व के मूल केन्द्र में आप उसे अवश्य पहचानें। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक घटना के पीछे उसके हाथ को पहचानें। उसको प्यार करें और उसके लिये जियें। इसी में जीवन की पूर्णता है।

उसकी इच्छा की पूर्ति की आकांक्षा रक्खें। उसी में महानतम कल्याण निहित है। दिव्यत्व का यही मार्ग है। उसकी इच्छा के विरुद्ध अपना मार्ग बनाने का प्रयत्न न करें। ऐसा करना अबोध और हठी बच्चे का सा व्यवहार होगा।

''इतिश्री''